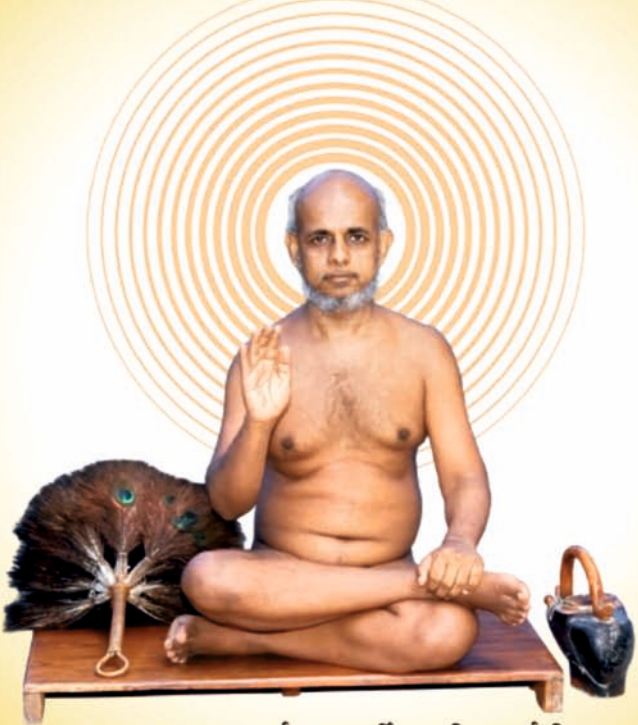

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणा:–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

न्यायमन्दिर

लेखक
वीरसागर जी जैन

प्रकाशक
जैन विद्यासंस्थान
महावीरजी (राजस्थान)

(परम्परानायक)

परम पूज्य चारित्र-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त-शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त-चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

परम पूज्य तपश्चर्या-चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्रायः होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तृत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि-परिवार

न्याय-मन्दिर

लेखक

डॉ. वीरसागर जैन

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

नई दिल्ली

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

राजस्थान

प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

श्री महावीरजी–322 220 (राज.)

प्राप्ति-स्थान

1. **जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी**
2. **साहित्य उपलब्ध केन्द्र**
   दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी
   सवाई रामसिंह रोड
   जयपुर–302 004

प्रथम बार, अगस्त, 2006, *प्रतियाँ :* 1000

द्वितीय बार, मार्च, 2015

तृतीय बार, जनवरी, 2018, *प्रतियाँ :* 700

मूल्य : 80 रुपये

मुद्रक

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

एम. आई. रोड

जयपुर

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

'न्याय-मन्दिर' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर अत्यन्त हर्ष है। इसका प्रथम संस्करण वर्ष 2006 में प्रकाशित किया गया था।

'न्यायविद्या' दर्शनशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। 'न्यायविद्या' तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का आवश्यक उपाय है। इसके बिना समीचीन तत्त्वज्ञान की प्राप्ति असंभव है। 'न्यायविद्या' सामान्यतः एक कठिन एवं दुरूह विषय माना जाता है पर प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत इस पुस्तक मे यह कठिन एवं दुरूह विषय भी अत्यन्त सरल एवं सहजग्राह्य रूप में विवेचित किया गया है, इसलिए यह विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

पुस्तक के प्रस्तोता डॉ. वीरसागर जैन को इसके लिए बहुत-बहुत साधुवाद।

पुनर्मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. जयपुर धन्यवादार्ह है।

जस्टिस नरेन्द्रमोहन कासलीवाल	**महेन्द्रकुमार पाटनी**	**डॉ. कमलचन्द सोगाणी**
अध्यक्ष	मंत्री	संयोजक
प्रबन्धकारिणी कमेटी		जैनविद्या संस्थान समिति
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी		

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए 'न्याय-मन्दिर' पुस्तक का प्रकाशन कर अत्यन्त प्रसन्नता है। 'दर्शन-शास्त्र' में 'न्यायविद्या' अत्यन्त कठिन एवं दुरूह विषय माना जाता है। इसलिए आजकल इसके अध्ययन-अध्यापन की परम्परा कम, प्रायः लुप्त-सी होती जारही है। यदि इसके मूलभूत सिद्धान्तों को स्पष्टतया समझाया जाए तो तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए फिर यह असंभव नहीं रह सकती। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है।

न्यायविद्या अर्थात् 'परीक्षा', 'समीक्षा'। किसी भी वस्तु, तथ्य, सिद्धान्त या मान्यता के बारे में वह दोषरहित, निर्दोष है या नहीं यह जाँचना-परखना और निर्णय करना ही 'परीक्षा' है।

वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए उसकी 'परीक्षा' करना अत्यन्त आवश्यक होता है। वस्तु का स्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है, उसे ऐसे ही नहीं समझा जा सकता। 'परीक्षा' के द्वारा ही उसकी सत्यता, समीचीनता को समझा जा सकता है। जिस प्रकार स्वर्ण को भलीभाँति तपाकर, कसौटी पर कसकर उसकी शुद्धता की जाँच – परीक्षा करने के बाद ही ग्रहण किया जाता है उसी प्रकार किसी भी सिद्धान्त, मान्यता, किसी के वचन आदि भी 'परीक्षा' करके ही स्वीकार करने चाहिए; क्योंकि असली-नकली, हेय-उपादेय की पहचान 'परीक्षा' से ही होती है। 'परीक्षा' वस्तु के स्वरूप को समझने में हमारी सहायता करती है। जैनधर्म परीक्षा-प्रधान है, उसमें किसी भी सिद्धान्त-मान्यता तत्त्व आदि को उसकी 'परीक्षा' के बाद ही स्वीकार किया जाता है।

सामान्यतः किसी भी सिद्धान्त की परीक्षा करना बहुत कठिन होता है। लोक में असत्य/नकली की अधिकता भी इतनी है कि उसमें से सत्य को पहचान लेना/पा लेना कठिन लगता है। पर यह असंभव नहीं है।

'न्यायविद्या' वस्तु के सत्य-स्वरूप को देखने की कला सिखाती है। असत्य का निराकरण कर सत्य को पा लेना ही न्यायविद्या/परीक्षा का उद्देश्य है। न्यायविद्या/परीक्षा में पक्षपातरहित, आग्रह एवं स्वार्थ से रहित होकर निष्पक्षरूप से आकलन किया जाता है। परीक्षा निष्पक्ष व निराग्रही होती है। समीचीन तत्वजिज्ञासुओं के लिए 'न्यायविद्या' का ज्ञान अपेक्षित है, परम आवश्यक है।

इस पुस्तक के लेखक हैं डॉ. वीरसागर जैन, अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली। उन्होंने 'न्यायविद्या' के मूलभूत सिद्धान्तों को आज की सर्वाधिक प्रिय, ग्राह्य एवं प्रचलित 'प्रश्नोत्तर शैली' में अत्यन्त सरल, सहज एवं सरस रूप से प्रस्तुत किया है। डॉ. वीरसागर जैन, जैनदर्शन के विद्वान हैं एवं भावी दिशा-निर्धारक हैं। विश्वास है उनका यह प्रयास सर्वग्राह्य होगा। इसे प्रकाशन हेतु प्राप्त कर उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रकाशन में सहयोग के लिए अकादमी के विद्वान विशेषतया सुश्री प्रीति जैन एवं मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

नरेशकुमार सेठी — अध्यक्ष
नरेन्द्र पाटनी — मंत्री
प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति

अनुक्रम

	पृष्ठ
प्राक्कथन	9
भूमिका	11
मंगलाचरण	26
प्रथम द्वार	**27-38**
न्याय किसे कहते हैं?	27
न्याय-विवेचन-पद्धति	28
उद्देश	28
लक्षणनिर्देश	28
लक्षण के दोष	28
अव्याप्ति	28
अतिव्याप्ति	28
असम्भव	29
लक्षण का लक्षण	29
लक्षण के भेद	29
आत्मभूत	29
अनात्मभूत	29
परीक्षा	30
प्रमाण का लक्षण	31
प्रमाण का प्रामाण्य	37
प्रमाण के प्रामाण्य की उत्पत्ति	37
प्रमाण के प्रामाण्य की ज्ञप्ति	37
द्वितीय द्वार	**39-51**
प्रमाण के भेद	39
प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण	39
प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद	41
सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष	42
अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा	43

पारमार्थिक प्रत्यक्ष 44
अवधिज्ञान 44
मन:पर्ययज्ञान 45
केवलज्ञान 46
सर्वज्ञसिद्धि 47

तृतीय द्वार **52-72**
परोक्ष प्रमाण का लक्षण 52
परोक्ष प्रमाण के भेद 52
स्मृति 52
प्रत्यभिज्ञान 53
तर्क 54
अनुमान 56
अनुमान का लक्षण 56
अनुमान के भेद 57
स्वार्थानुमान 57
परार्थानुमान 57
अनुमान के अंग (अवयव) 58
प्रतिज्ञा 62
हेतु 62
लक्षण 62
भेद-प्रभेद 65
उदाहरण 59
उपनय 60
निगमन 60
आगम 69

चतुर्थ द्वार **73-75**
प्रमाण का विषय 73
सामान्य (तिर्यक्सामान्य, ऊर्ध्वतासामान्य) 73
विशेष (पर्यायविशेष, व्यतिरेकविशेष) 74
प्रत्येक पदार्थ के सामान्य-विशेषात्मक होने की सिद्धि 74
अनुवृत्त-व्यावृत्त-प्रत्यय 75
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य 75

पञ्चम द्वार **76-78**
प्रमाण का फल 76
साक्षात्फल, परम्पराफल 76
प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है या अभिन्न? 77
सर्वथा भिन्न मानने में आपत्ति 77
सर्वथा अभिन्न मानने में आपत्ति 78

षष्ठ द्वार **79-93**
प्रमाणाभास 79
प्रमाणाभास के भेद 80
प्रत्यक्षाभास 80
प्रत्यक्षाभास के भेद 80
सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास 80
पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास 80
परोक्षाभास 81
परोक्षाभास के भेद 81
स्मरणाभास, 81
प्रत्यभिज्ञानाभास, 81
तर्काभास, 82
अनुमानाभास 82
पक्षाभास 83
हेत्वाभास 84
दृष्टान्ताभास 87
उपनयाभास 89
निगमनाभास 89
आगमाभास 89
प्रमाणसंख्याभास 89
प्रमाणविषयाभास 92
प्रमाणफलाभास 92

सप्तम द्वार **94-110**
नय 94
नय और प्रमाण में अन्तर 95
प्रमाण के होते हुए नय की आवश्यकता 96

प्रमाण बड़ा या नय 97
नय के भेद 97
द्रव्यनय-भावनय 98
निश्चय-व्यवहार 98
द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक 100
शब्द-अर्थ-ज्ञान नय 101
नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव नय 102
नैगमादि सप्त नय 102
सैंतालीस नय 106
नयाभास 109
नयाभास के भेद 110

परिशिष्ट- 111-120

1. जैन न्याय की कतिपय प्रमुख कृतियाँ 111
2. 'न्याय-मन्दिर' में उल्लिखित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार 115
3. शब्दानुक्रमणिका 117

❐❐

प्राक्कथन

प्रस्तुत कृति का नाम 'न्याय-मन्दिर' है। इसमें सात द्वारों (अध्यायों) में जैन-न्याय का प्राथमिक परिचय प्रस्तुत किया गया है।

सात द्वारों से पूर्व एक 'भूमिका' भी है जिसमें न्याय के ज्ञान की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है। जो लोग किसी भी बहाने न्याय के अध्ययन से विरक्त रहते हैं, उनका इस भूमिका में सयुक्तिक समाधान प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है, ताकि उनकी भ्रान्तियाँ दूर हों और सभी को न्याय के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त हो।

भूमिका के उपरान्त सात द्वारों में न्याय के दोनों अंगों—प्रमाण और नय—का क्रमशः विवेचन किया गया है। प्रारम्भिक छह द्वारों में प्रमाण का विवेचन है और अन्तिम एक द्वार (सातवें) में नय का। अन्त में तीन उपयोगी परिशिष्ट भी दिये गये हैं।

इस कृति के निर्माण में वैसे तो अनेक ग्रन्थों का उपयोग हुआ है (देखें परिशिष्ट-1); परन्तु मुख्यतः परीक्षामुखसूत्र, न्यायदीपिका और प्रमाणमीमांसा— ये तीन ग्रन्थ ही इस कृति के मूलाधार रहे हैं। जैन-न्याय के प्रारम्भिक ज्ञान हेतु ये तीन ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी माने जाते हैं और प्रायः सर्वत्र पाठ्यक्रमों में भी निर्धारित हैं। हाँ, इन ग्रन्थों में नयों का विशेष विवेचन उपलब्ध नहीं होता, अतः उसे नयचक्रादि अन्य ग्रन्थों के आधार से भी लिखा गया है। परन्तु प्रामाणिकता हेतु प्रायः सर्वत्र संस्कृत के मूल कथन भी पाद-टिप्पणी के रूप में दिये गये हैं। प्रबुद्ध पाठकों से अनुरोध है कि वे उन संस्कृत के मूल कथनों को भी अवश्य पढ़ें और हो सके तो उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षणों को कण्ठस्थ भी कर लें। इससे उन्हें विशेष लाभ होगा और वे सुगमतापूर्वक बड़े न्याय-ग्रन्थों का अध्ययन कर सकेंगे।

इस कृति में वस्तुतः सभी कुछ पूर्वाचार्यों का है, मेरा कुछ भी नहीं है। मैंने तो इसे स्व-पर-लाभाय आज की भाषा (आधुनिक राष्ट्रभाषा हिन्दी) में सरलतापूर्वक पुनर्निबद्ध भर किया है। अतः सरलता ही इस कृति की मुख्य विशेषता मानी जा सकती है। सरलता के लिए ही मैंने इसे प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत किया है और कहीं-कहीं सुबोध उदाहरणादि का प्रयोग भी किया है। मेरा मानना है कि न्याय एक अत्यन्त प्रयोजनभूत विषय है और उसका ज्ञान एकदम अनिवार्य है। उसके बिना वस्तु-स्वरूप को समीचीनतया जाना ही नहीं जा सकता है। और जब जाना ही नहीं जा सकता है तो बात आगे कैसे बढ़ सकती है? यही कारण है कि मैं अपने मित्रों को न्याय के ज्ञान की हार्दिक प्रेरणा देता रहता था। वे तैयार भी हो जाते, परन्तु एक ही समस्या आ उपस्थित होती कि वे सर्वप्रथम कौन-सी पुस्तक पढ़ें। मैं उन्हें उपर्युक्त

परीक्षामुखसूत्र आदि प्रारम्भिक ग्रन्थों के ही अध्ययन का सुझाव देता, परन्तु ये भी उन्हें कठिन लगते। यही कारण है कि मुझे इस अत्यधिक सरल पुस्तक को लिखने की अभिलाषा हुई है। आप कह सकते हैं कि जब वे परीक्षामुखसूत्र आदि ही अल्पबुद्धि बालकों के लिए लिखे गये हैं तो उनके आधार पर लिखी गई यह सरल-सी पुस्तिका तो निश्चय ही और भी अल्पबुद्धि शिशुओं के काम की है; कक्षा एक की भी नहीं, नर्सरी की है।

यह कृति यूँ तो सन् 2001ई. में ही तैयार हो गई थी, परन्तु जानबूझ कर इसका प्रकाशन नहीं कराया था। कम्प्यूटर और फोटोस्टेट मशीन की सहायता से ही इसकी पुस्तकाकार प्रतियाँ तैयार कर इसे जिज्ञासु लोगों और विद्वानों तक भेजा जाता रहा, ताकि यह पूर्णतः परिमार्जित हो जाए। सभी को यह कृति बहुत उपयोगी प्रतीत हुई और मूर्धन्य विद्वानों तक ने मुक्तकंठ से इसकी प्रशंसा की। प्रतिनिधि पत्र के रूप में प्रो. उदयचन्द्र जैन सर्वदर्शनाचार्य वाराणसी का पत्र प्रस्तुत है—

"आपके द्वारा निर्मित 'न्याय-मन्दिर' को देखकर परम प्रसन्नता हुई। आपने सात द्वारों के द्वारा न्याय-मन्दिर का निर्माण किया है। जो छात्र या अल्पबुद्धि व्यक्ति न्याय-शास्त्र में प्रवेश करना चाहता है उसके लिए यह पुस्तिका अत्यन्त उपयोगी है। इसके सात द्वारों को पार करके कोई भी व्यक्ति न्यायरूपी मन्दिर पर आसानी से पहुँच सकता है। इसकी भाषा सरल और प्रामाणिक है। इसमें 267 प्रश्नों तथा उनके उत्तरों द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। तथा न्यायदीपिका, परीक्षामुखसूत्र, प्रमेयरत्नमाला आदि न्याय-ग्रन्थों से 310 टिप्पण देकर पुस्तक को प्रामाणिक बनाया गया है। ऐसी सरल और उपयोगी पुस्तक की रचना करके आपने एक श्रेष्ठ कोटि का कार्य किया है। इसके लिए आपको हार्दिक बधाई है।"

प्रशंसा के साथ-साथ अनेक प्रबुद्ध पाठकों और मूर्धन्य विद्वानों ने मुझे इस कृति में संशोधन-परिवर्द्धन हेतु भी कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये थे, जिन्हें मैंने कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है। निश्चय ही उनके संशोधनों से इस कृति को चार चाँद लग गये हैं। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ और आगे भी सुधीजनों से अनुरोध करता हूँ कि यदि वे इस कृति में किसी भी प्रकार के संशोधन-परिवर्द्धन की आवश्यकता का अनुभव करें तो मुझे बताने की कृपा अवश्य करें। मैं उसे आगामी संस्करण में कृतज्ञतापूर्वक सुधारने का प्रयत्न करूँगा।

—डॉ. वीरसागर जैन
अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110016
दूरभाष : 26177207, 9868888607

भूमिका

जीव के दु:खों का मूल कारण एक ही है— अज्ञान, मिथ्याज्ञान; अतः दु:खनिवृत्ति का भी मूल कारण एक ही है— ज्ञान, सम्यग्ज्ञान।

तथा यह सम्यग्ज्ञान अर्थात् समीचीन तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। अतः समीचीन तत्त्वज्ञान के लिए अथवा दु:खनिवृत्तिरूप मूल प्रयोजन की सिद्धि के लिए न्याय का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

वैसे तो हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही न्यायविद्या का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता रहा है और जीवन के हर क्षेत्र में उसकी महती उपयोगिता स्वीकार की गई है, जैसा कि महाकवि कौटिल्य ने लिखा है—

"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता ॥"[1]

अर्थ :— आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायविद्या) शाश्वत काल से ही सर्व विद्याओं का प्रदीप, सर्वकर्मों का उपाय और सर्वधर्मों का आश्रय मानी गई है।

परन्तु यहाँ हम अपने लोकोत्तरहिताभिलाषी पाठक को उतने विस्तार में नहीं ले जाना चाहते हैं। बस, इतना ही जोर देकर निवेदन करना चाहते हैं कि वे रुचि लेकर न्याय का ज्ञान अवश्य करें, क्योंकि उसी के द्वारा समीचीन तत्त्वज्ञान होता है और फिर उस समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा ही सर्वदु:खनिवृत्ति होने से जीव का लोकोत्तर हित होता है। अन्य कोई विधि नहीं है।

न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं। यथा— परीक्षा[2], अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकी[3], युक्ति[4], समीक्षा[5], तर्कविद्या,

---

1. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण।
2. यथा– **परीक्षा**मुखसूत्रम्।
3. यथा– कौटिल्य के उपरि–उद्धृत श्लोक में।
4. 'सुणयप्रमाणा **जुत्ती**।' –माइल्लधवल, नयचक्र, 261
5. 'प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभि**समीक्ष्यते**।' –धवला 1/1/1/10

वादविद्या[6], हेतुविद्या, हेतुवाद, हेतुमार्ग, न्याय, नीति, औचित्य, विवेक, विचार[7], चिन्तन, परख इत्यादि। ये भी तत्त्वान्वेषण में न्याय के विशेष महत्त्व को ही प्रकट करते हैं, अतः न्याय का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए।

कुछ लोग मोक्षार्थी होकर भी, समीचीन तत्त्वजिज्ञासु होकर भी अनेक बहाने बनाकर न्याय के ज्ञान से बचने का प्रयत्न करते हैं, जो ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ—

कुछ लोग कहते हैं कि न्यायशास्त्र का ज्ञान तो शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या उसमें येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन के लिए आवश्यक है, उसका आत्महित या तत्त्वज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं; परन्तु उनकी ऐसी धारणा सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि न्यायशास्त्र का असली उद्देश्य समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्महित ही है; शास्त्रार्थ, वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन नहीं।

जो लोग न्यायशास्त्र का उद्देश्य शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या स्वमतमण्डन और परमतखण्डन मात्र समझते हैं, वे वस्तुतः न्याय की परिभाषा भी नहीं जानते। न्यायशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् आचार्य अकलंक देव ने तो ऐसे लोगों को 'गुणद्वेषी' और 'न्यायशास्त्र के मलिनकर्ता' तक कहा है। यथा—

"बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-
र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥"[8]

अर्थ :— अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के

---

6. यद्यपि वाद और न्याय दोनों में बहुत अन्तर है, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जा रहा है, तथापि स्थूल अपेक्षा से कहीं-कहीं न्याय को वाद भी कहा गया है— 'केचिद् वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति, तत्पारिभाषिकमेव'। -न्यायदीपिका 3/36
7. "प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतु**र्विचारः** ।.....स खलु विचारज्ञो यः प्रत्यक्षेणोपलब्धमपि साधु परीक्ष्यानुतिष्ठति ।" -सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत 15/2-6 (जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम से यथावस्थित वस्तु का सही ज्ञान कराये, उसे विचार कहते हैं। वही पुरुष विचारशील है जो प्रत्यक्ष उपलब्ध वस्तु की भी भलीभाँति परीक्षा करता है।)
8. आचार्य अकलंक, न्यायविनिश्चय, 1/2

उदय से, अविद्या-अन्धकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लोगों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे अनुकम्पा-परायण आचार्य जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षालित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

आचार्य अकलंक के उक्त कथन में उनके हृदय की अपार वेदना और साथ ही करुणा भी प्रकट हो रही है, जिस पर हमें गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए।

वस्तुतः यह महान् दुःख का विषय है कि जो न्याय तत्त्वज्ञान का आवश्यक उपाय है, अनिवार्य साधन है, उसे लोगों ने वाद-विवाद एवं जय-पराजय का हेतु बता दिया है और तन्निमित्त छल-निग्रहादि का भी उपदेश दे दिया है। कषाय मिटाने के साधन को कषाय बढ़ाने का साधन बना दिया है।

यह सब देखकर हमारा भी हृदय बहुत दुःखी होता है, पर किया क्या जा सकता है, सिवाय इसके कि आचार्य अकलंकदेव की भाँति हम भी अपनी क्षमतानुसार इसे सम्यग्ज्ञान-जल से प्रक्षालित करते हुए आगे ले चलें। कुछ पात्र जीवों का तो कल्याण होगा ही।

दरअसल वाद-विवाद और परीक्षा — ये दोनों पृथक्-पृथक् दो चीजें हैं और दोनों में महान् अन्तर है। जिसप्रकार स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में बड़ा अन्तर है, ईर्ष्या और स्पर्द्धा में बड़ा अन्तर है, उसीप्रकार वाद-विवाद और परीक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। वाद-विवाद अनेक दोषों का दुर्गन्धित भण्डार है और परीक्षा अनेक गुणों का अनमोल खजाना। आचार्यों ने वाद-विवाद को विष कहा है तो परीक्षा को अमृत।[9]

वाद-विवाद हमें मोह-राग-द्वेष में उलझाता है, जबकि न्याय हमें मोह-राग-द्वेष से ऊपर उठाकर वस्तु के सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है।

---

9. (क) "अकलंकवचोऽम्भोधेरुद्दध्रे येन धीमता ।
न्यायविद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ।।"

–आचार्य लघु अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला, मंगलाचरण, 2

(ख) 'खोजी जीवै वादी मरै सांची कहवत है ।'

–कविवर बनारसीदास, समयसार नाटक, सर्वविशुद्धि द्वार 45

यह जीव अनादि काल से मोह-राग-द्वेष के वशीभूत होकर वस्तु के सत्य स्वरूप को उसीप्रकार नहीं देख पाता, जिसप्रकार कोई उन्मत्त पुरुष।[10] परन्तु यह न्यायविद्या का ही परम-उपकार है कि वह हमें मोह-राग-द्वेष से युक्त होने पर भी उनसे ऊपर उठकर वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने की कला सिखाती है।

वाद-विवाद करनेवाले का एकमात्र लक्ष्य येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन ही होता है, पर न्यायप्रिय व्यक्ति का लक्ष्य असत्य का निराकरण करके सत्य का अनुसन्धान कर लेना होता है। सूत्रवाक्य में कह सकते हैं कि वाद-विवाद करनेवाले का सिद्धान्त होता है— मेरा सो खरा, जबकि न्यायप्रेमी का सिद्धान्त होता है— खरा सो मेरा।

वाद-विवाद करनेवाले की दृष्टि निरन्तर जय-पराजय पर ही होती है; जय-पराजय पर भी नहीं, अपनी जय और दूसरे की पराजय पर ही होती है; जबकि न्यायप्रिय व्यक्ति की दृष्टि निरन्तर सत्यानुसन्धान में लगी रहती है, उसे जय-पराजय से प्रयोजन नहीं होता, सत्यप्राप्ति को ही वह अपनी सबसे बड़ी विजय मानता है।

वाद-विवाद कलहप्रिय लोगों को अच्छा लगता है, जबकि न्याय को शान्तिप्रिय और सत्यान्वेषी लोग पसन्द करते हैं। जिनको न्याय अप्रिय लगता हो, अरुचिकर लगता हो, वे अवश्य आत्मनिरीक्षण करें। 'क्षत्रचूडामणि' में कहा है कि न्याय उन्हें अच्छा नहीं लगता जिनका मन ईर्ष्यादूषित है-

"न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे।"[11]

वाद-विवाद जितना हेय है, परीक्षा उतनी ही उपादेय है। अत एव प्राचीन काल से ही प्राय: सभी ऋषि-मुनियों ने वाद-विवाद को अत्यन्त हेय और परीक्षा को अत्यन्त उपादेय कहा है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से भलीभाँति स्पष्ट होता है। कुछ ही लोगों ने परवर्ती काल में अज्ञान या कषाय के वशीभूत होकर वाद-विवाद और परीक्षा में अन्तर न करके न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है, जिससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

---

10. "मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्त: पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवै:।।" -आचार्य पूज्यपाद, इष्टोपदेश, 7
11. आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूडामणि, 4/25

वाद-विवाद का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

"णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥"[12]

अर्थ :— नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, अतः स्वसमय-परसमयों के साथ वचन-विवाद नहीं करना चाहिए।

इसीप्रकार आदि-शंकराचार्य भी स्पष्ट लिखते हैं—

"बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्।"[13]

इसीप्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों और विद्वानों ने वाद-विवाद को निन्दनीय एवं त्याज्य कहा है।[14]

आचार्य अमितगति ने वाद-विवाद करने को कुतर्क करना कहा है और उसके अनेक दोष गिनाये हैं। यथा—

"बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा॥
कुतर्केऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिकांक्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके॥"[15]

अर्थ :— कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शान्ति का विनाशक, श्रद्धा को भंग करनेवाला और अभिमान को बढ़ानेवाला मानसिक रोग है, जो कि

---

12. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, 156
13. आदि शंकराचार्य, साधन-पंचक, 3
14. (क) "अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः प्रतिपत्तये।
प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त्वा वादादिवासनाम्॥"
—आचार्य अमितगति, योगसार प्राभृत 7/31, 33, 38
(ख) "इदमत्र तात्पर्यं स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परं प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्? विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति।"
—आचार्य जयसेन, प्रवचनसार-टीका, तात्पर्यवृत्ति, 224
(ग) "विवादो न कर्तव्यः। कस्मादिति चेत् – विवादे रागद्वेषौ भवतस्ततश्च संसारवृद्धिरिति।" —ब्रह्मदेवसूरि, वृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका, 22
(घ) "सद्गुरु कहे सहज का धन्धा। वाद-विवाद करे सो अन्धा॥"
15. आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत, 7/52-53

अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु सिद्ध होता है, अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपना मन नहीं लगाना चाहिए।

इसप्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने वाद-विवाद या कुतर्क को अत्यन्त हानिकारक एवं हेय कहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि तर्क, न्याय या परीक्षा भी हेय है और हमें उससे भी बचकर रहना चाहिए। हमारे सभी पूर्वाचार्यों ने जहाँ एक ओर कुतर्क या वाद-विवाद को अत्यन्त निन्दनीय और हेय कहा है, वहीं दूसरी ओर तर्क, न्याय या परीक्षा को अत्यन्त आदरणीय और उपादेय भी कहा है। जिन आचार्य अमितगति ने उपरि-उद्धृत श्लोक में कुतर्क के अनेक दोष गिना कर उससे बचने की प्रेरणा दी है, उन्होंने स्वयं ही एक 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ भी लिखा है और उसमें परीक्षा को पुनः पुनः प्रशंसा करते हुये अत्यन्त उपादेय कहा है। यथा—

"न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनङ्कृतम्।
ममैव धर्म शिवसौख्यदायिके परीक्षितुं केवलमुत्थितः भ्रमः॥"[16]

अर्थ :— मैंने यहाँ अन्य शास्त्रों के अर्थ का विवेचन (निराकरण) बुद्धि के अभिमानवश या किसी पक्षपातवश नहीं किया है, अपितु मेरा ही धर्म शिवसुखदायक है— इसकी परीक्षा करके लोगों का भ्रम दूर किया है।

अपने 'श्रावकाचार' में भी वे परीक्षा का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं—

"लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वंचनभीतचित्ताः॥"[17]

अर्थ :— विचारवान पुरुष तो सर्वसमर्थ लक्ष्मी प्रदान करानेवाले धर्म को ठगाए जाने के भय से स्वर्ण की भाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

इसीप्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों ने परीक्षा की पुनः पुनः प्रशंसा करते हुए उसे अत्यन्त उपादेय कहा है। आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि—

"जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥"[18]

अर्थ :— जो जीव प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा अर्थ की परीक्षा नहीं करता

---

16. आचार्य अमितगति, धर्मपरीक्षा, 10
17. आचार्य अमितगति, श्रावकाचार 1/29
18. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/82

है उसे अयुक्त भी युक्त और युक्त भी अयुक्त की तरह प्रतिभासित होता है।

इसीप्रकार का भाव आचार्य वीरसेन ने भी 'धवला' में प्रकट किया है।[19]

आचार्य सोमदेवसूरि 'यशस्तिलकचम्पू' में लिखते हैं कि वस्तुस्वरूप को समझने के लिए शपथ की नहीं, परीक्षा की आवश्यकता होती है—

"एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः॥
दाहच्छेदकषा शुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया॥[20]"

अर्थ :— पक्ष और शपथ —ये दोनों ही तत्त्वबोध के लिए व्यर्थ हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष परप्रत्यय मात्र से तत्त्व का विश्वास नहीं करते।

दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध हुए स्वर्ण में शपथ क्या करेगी? तथा दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध न हुए स्वर्ण में भी शपथ क्या करेगी?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने 'लोकतत्त्वनिर्णय' आदि ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से परीक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। 'लोकतत्त्वनिर्णय' में वे लिखते हैं—

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"[21]

अर्थ :— मुझे महावीर जिनेन्द्र से कोई पक्षपात नहीं है और अन्य कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है; परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी का ग्रहण करना चाहिए।

वे और भी कितना सुन्दर लिखते हैं—

"बन्धुर्न नः स भगवान् रिपवोऽपि नान्ये,
साक्षान्न दृष्टचर एकतमोऽपि चैषाम्।

---

19. "प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्॥"
–आचार्य वीरसेन, धवला 1/1/1/10

20. सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 6/73-74

21. हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38

श्रुत्वा वचः सुचरितं च पृथग् विशेषं,
वीरं गुणातिशयलोलतया श्रिताः स्मः ॥"[22]

अर्थ :— ये वीर (महावीर) भगवान मेरे कोई बन्धु नहीं हैं और अन्य देव मेरे शत्रु नहीं हैं, मैंने तो उनमें से किसी को भी साक्षात् देखा तक नहीं है; परन्तु उनके वचनों को सुनकर और उनमें अलग ही विशेषता देखकर गुणातिशय की लाभ-भावना से वीर भगवान का ही आश्रय लिया है।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी परीक्षा को महत्त्व देते हुए लिखा है—

"न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु ।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः ॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया ।
वीतदोषकलुषः च चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥"[23]

अर्थ :— हे वीर प्रभु ! मुझे केवल श्रद्धामात्र से आपके प्रति पक्षपात नहीं है और द्वेषमात्र से दूसरे देवों में अरुचि नहीं है; परन्तु मैंने आप्तत्व की यथावत् परीक्षा करके ही आपका ही आश्रय ग्रहण किया है। किसी भी मत या सम्प्रदाय में हो, कैसा भी हो, किसी भी नाम से जाना जाता हो, परन्तु यदि वह सर्व दोष-कालुष्य से रहित हो गया है तो हे भगवन् ! वह तुम ही हो और तुम्हें ही मेरा नमस्कार हो।

न केवल जैनाचार्यों ने, इतर विद्वानों ने भी परीक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। महाकवि कालिदास का निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें परीक्षाप्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी सन्त और परीक्षा-रहित अन्धविश्वासी को मूढ़ कहा है—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥"[24]

अर्थ :— सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार व्यक्ति दोनों की परीक्षा करके उनमें से जो समीचीन हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ व्यक्ति ही दूसरे के कथन मात्र से विश्वास करता है।

---

22. हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/32
23. हेमचन्द्रसूरि, अयोगव्यवच्छेदिका, 29 व 31
24. महाकवि कालिदास, मालविकाग्निमित्र, 1/2

किसी स्मृति-ग्रन्थ में भी युक्तियुक्त वचनों को ही ग्रहण करने की प्रेरणा इसप्रकार दी गई है— **"युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यम्।"**

इसी प्रकार महात्मा गौतम बुद्ध का भी कथन प्रसिद्ध है कि—

"तापाच्छेदान्निकषात् सुवर्णमिव पण्डिताः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्॥"

अर्थ :— हे विद्वान् भिक्षुओ ! जिसप्रकार स्वर्ण को भली भाँति तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किया जाता है; उसीप्रकार तुम भी मेरे वचनों को परीक्षा करके ही ग्रहण करना, न कि गौरव से।

वास्तव में परीक्षा निष्पक्ष, निराग्रही होती है। उसे 'न काहू से दोस्ती और न काहू से बैर' होता है। उसे व्यक्ति के नाम, उम्र, लिंग, जाति आदि से भी कोई प्रयोजन नहीं होता। वह तो गुणों को ही पूजनीय कहती है।[25] इसीलिए जो इसप्रकार के कथन उपलब्ध होते हैं कि—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये॥"[26]

अर्थ :— जो मोक्षमार्ग के नेता है, कर्मरूपी पर्वतों के भेत्ता है और सर्वतत्त्वों के ज्ञाता हैं, उनको मैं उन गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

अथवा—

"भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपगताः यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"[27]

अर्थ :— जिसने संसार के कारणभूत रागादि को क्षय कर दिया है उसे ही नमस्कार हो; चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो या जिन हो।

अथवा—

"जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निःस्पृह हो उपदेश दिया॥

---

25. (क) 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।' –सुभाषित
(ख) 'गुणज्ञता जगत्पूज्या गुणी सर्वत्र मन्यते।'–आचार्य शुभचन्द्र, पांडवपुराण, 17/9
26. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, मंगलाचरण।
27. आचार्य हेमचन्द्रसूरि , स्याद्वादमंजरी, प्रस्तावना, पृष्ठ 7

बुद्ध वीर जिन हरि हर ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो।
भक्ति भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥"[28]

वे सब भी परीक्षा के ही महत्त्व को प्रकट करते हैं। अतः हमें परीक्षा या न्याय का ज्ञान एवं आश्रय अवश्य करना चाहिए। किसी भी बहाने उससे बचने का आत्मघाती प्रयत्न करना ठीक नहीं। वाद-विवाद ही हेय है, परीक्षा नहीं। परीक्षा तो अत्यन्त उपादेय है।

कुछ लोग कहते हैं कि सत्य-असत्य की परीक्षा करना तो बहुत कठिन कार्य है, लगभग असम्भव-सा ही है। लोक में असत्य की अधिकता भी इतनी है कि उसमें से सत्य को पहचान लेना और पा लेना तो सोचना भी कठिन लगता है।

ऐसे लोग उत्साहहीन हैं। परीक्षा करना कठिन अवश्य है, पर असम्भव कतई नहीं। यदि व्यक्ति स्वार्थ, आग्रह या पक्षपात से ऊपर उठकर एकदम निष्पक्ष होकर सच्ची विधि से परीक्षा करे तो सच्ची परीक्षा सहज हो सकती है, कठिन नहीं है। प्रमादी और आग्रही व्यक्ति ही परीक्षा नहीं कर पाता। यदि करता भी है तो उससे अन्यथा परीक्षा होती है। आचार्यकल्प पं. टोडरमल जी लिखते हैं— "सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करें वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।[29]"

अतः परीक्षा के प्रति उत्साहहीन रहना ठीक नहीं। लोक में असत्य की अधिकता है— यह भी चिन्ता का विषय नहीं। किसी भी प्रश्न के असत्य उत्तर अधिक ही होते हैं, सत्य उत्तर तो एक ही होता है। अध्ययनशील विद्यार्थी उनसे घबराते नहीं हैं। 'नकली माल बाजार में बहुत है अतः असली भी मत खरीदो' —यह कोई समाधान नहीं है। इसीप्रकार हीरे की परख कठिन ही होती है, परन्तु हीरे का व्यापारी 'कौन परीक्षा के चक्कर में पड़े' —ऐसा कभी नहीं सोचता, उद्यम करके परीक्षा करता ही है और उससे उसे असली-नकली की पहचान भी होती ही है। जरा कल्पना कीजिए यदि हीरे का व्यापारी कठिन होने के कारण हीरों की परीक्षा करना छोड़ दे या उसमें

---

28. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, मेरी भावना।
29. पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 216

शिथिलता करे तो क्या होगा?

अतः उत्साहपूर्वक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। उसी से समीचीन तत्त्वज्ञान का महान् लाभ होगा।

इसीप्रकार कुछ अन्य लोग कहते हैं कि दुःखनिवृत्ति के लिए तो तत्त्वज्ञान आवश्यक है, न्यायज्ञान नहीं, अतः हम तो केवल तत्त्वज्ञान ही करेंगे, न्यायज्ञान नहीं। न्यायज्ञान तो अनावश्यक है।

ऐसे लोग भी अज्ञानी हैं। यद्यपि यह सत्य है कि दुःखनिवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, परन्तु जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वह तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही समीचीनतः हो सकता है, उसके बिना कथमपि नहीं।

जिसप्रकार व्यापार तो वस्तुओं के क्रय-विक्रय से ही होता है, परन्तु वह वस्तुओं का क्रय-विक्रय तराजू आदि पैमानों के बिना ठीक-ठीक नहीं हो सकता, अतः व्यापारी को उन तराजू[30] आदि पैमानों का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए, उसीप्रकार दुःखनिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान से होती है, परन्तु वह तत्त्वज्ञान न्याय के बिना समीचीनतया नहीं हो सकता, अतः दुःखनिवृत्ति के अभिलाषी को न्याय का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए।

न्यायशास्त्र के अध्ययन से बचने के लिए कुछ अन्य लोग कहते हैं कि जीवन छोटा है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं अतः हम न्याय पढ़ने के चक्कर में नहीं उलझना चाहते। शास्त्रों में भी यत्र-तत्र लिखा है—

"अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि॥"[31]

अर्थ :— शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम भी दुर्बुद्धि हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिए जो जन्म-जरा-मरण का क्षय कर दे।

वे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। क्योंकि न्याय का ज्ञान तो इसीलिए आवश्यक बताया गया है कि कम समय में हम अल्पबुद्धि वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कर सकें। वस्तुस्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है,

---

30. (क) 'तुलासमा' -प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 2/1/30
(ख) 'प्राप्य प्रमाण पदवीं को नामास्ते **तुले**।' -भोजप्रबन्ध, 134
31. मुनि रामसिंह, पाहुडदोहा , 99

उसे यूँ ही नहीं समझा जा सकता। न्याय एक ऐसी सुलभ विधि है कि हम अल्पबुद्धि भी उसके द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को अल्प समय में समीचीनतया समझ सकते हैं।

न्याय के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप को समझना सरल होता है, कठिन नहीं। जिसप्रकार लोक में मीटर, तराजू आदि पैमाने सुलभ रीति से पदार्थों को ठीक-ठीक नापने-मापने का काम करने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं, उसीप्रकार न्याय भी सुलभ रीति से वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक समझने में हमारी बड़ी सहायता करता है। अतः इसका ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। न्याय उलझाता नहीं है, अपितु सुलझाता है। उलझाता तो वाद-विवाद है, अज्ञान है।

तथा शास्त्रों में जो ऐसा कहा है कि शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं अतः हमें वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो, उसका अभिप्राय यह है कि लोक में अनेक विद्याएँ हैं, सबके अगणित शास्त्र हैं, हम उन सबको सीखने का प्रयत्न कहाँ तक करेंगे? तब तक हमारा यह अल्प जीवन तो यूँ ही चला जाएगा और हम जन्म-मरण-रोग-विनाशक समीचीन तत्त्वज्ञान (मुक्तिमार्ग) से वंचित रह जाएंगे, अतः दुनिया की अनेक अप्रयोजनभूत विद्याओं को सीखने में दुर्लभ समय और अल्पबुद्धि को मत लगाओ और तत्त्वज्ञान हेतु प्रयोजनभूत विषय पर ही ध्यान दो। कहा भी है—

“गणिकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रमर्मज्ञाः।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभाः न हि तत्त्ववेत्तारः॥”[32]

अर्थ :— गणित, चिकित्सा, तर्क (कुतर्क, वाद-विवाद), पुराण, वास्तु, शब्द और संगीत के शास्त्रों में निपुण लोग तो आसानी से मिल जाते हैं, परन्तु तत्त्व के ज्ञाता पुरुष मिलना बहुत कठिन है।

और भी कहा है कि—

“बहत्तरकलाकुसला पण्डिय पुरिसा अपण्डिया चेव।
सव्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति॥”[33]

अर्थ :— जो पुरुष बहत्तर कलाओं में कुशल हैं, सभी कलाओं के प्रवर

32. भट्टारक ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी , 11/3
33. आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज की डायरी में से।

पण्डित हैं, परन्तु धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे वास्तव में अपण्डित ही हैं।

अतः शास्त्रों का उपर्युक्त कथन मुक्तिमार्ग में अप्रयोजनभूत जगत् की अनेक विद्याओं के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए। न्याय जगत् की उन अप्रयोजनभूत विद्याओं में से एक नहीं है, अपितु जीव के मुक्तिमार्ग हेतु अत्यन्त प्रयोजनभूत विद्या है। आचार्य सोमदेव ने तो इसे अध्यात्म विषय में ही प्रयोजनभूत विद्या कहा है।[34] न्याय के बिना वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है। अतः समीचीन तत्त्वजिज्ञासु को न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

इसीप्रकार कुछ अन्य लोग कहते हैं कि न्याय तो परवर्ती काल में आचार्य अकलंक आदि ने विकसित किया है। अधिक कहें तो आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी को न्याय का जनक कह सकते हैं। उससे पहले न्याय कहाँ था, जबकि लोग तो तत्त्वज्ञान करते ही थे। अतः तत्त्वज्ञान हेतु न्याय का ज्ञान आवश्यक नहीं है।

ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। आचार्य अकलंक, आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी से पहले भी न्याय अवश्य विद्यमान था, भले ही उस समय के न्याय-ग्रन्थ हमें आज उपलब्ध न होते हों। ग्रन्थ उपलब्ध न होने के तो अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है नष्ट हो गये हों अथवा यह तो आपको पता ही होगा कि पहले सारी श्रुत-परम्परा मौखिक रूप में ही चल रही थी और शास्त्र-लेखन का कार्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ है।

तथा यदि उक्त आचार्यों से पहले न्याय नहीं होता तो वेदों में नयों का उल्लेख कैसे मिलता है? यथा—

“आ नो गोत्रा दर्दृहि गो पते गाः समस्मभ्यं सु-नयो यंतु वाजाः।
दिवक्षा असि वृषभ सत्यशुष्मोऽस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदाः॥”[35]

अर्थ :— हे पृथ्वी के पालक देव ! हमें सुनय-सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमान मघवन् ! हमें सुबोधि प्रदान कर।

आचार्य जिनसेन ने भी भगवान ऋषभदेव को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा

---

34. ‘आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये।’ –सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत 5/63

35. ऋग्वेद 3/2/30/21

है— **'प्रणेता न्यायशास्त्रकृत'**[36] अतः वास्तविक स्थिति तो यही है कि न्यायविद्या अनादिनिधन है और इसी के द्वारा जीव समीचीन तत्त्वज्ञान करते आये हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन ने भी यही कहा है—

"प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।
सर्वसंव्यवहर्तॄणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता।।"[37]

अर्थ :— यह प्रमाण आदि की व्यवस्था अनादिनिधन है और इसका व्यवहार करनेवाले सभी लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ उसे हमने पुनः कहा है।

इसीप्रकार कुछ लोग कहते हैं कि न्यायग्रन्थ तो कठिन बहुत हैं, अतः हम उन्हें नहीं समझ सकते।

वे लोग भी उत्साहहीन हैं। यद्यपि यह सच है कि न्यायग्रन्थ गूढ़-गम्भीर होते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे बहुत कठिन होते हैं और हम उन्हें समझ नहीं सकते। यदि थोड़ी रुचि लेकर एकाग्रता के साथ पहले कुछ प्राथमिक न्याय-ग्रन्थों को पढ़ लिया जाए तो प्रायः सभी न्यायग्रन्थों को समझना बहुत सरल हो जाता है। जिन्हें न्याय की प्रारम्भिक जानकारी न हो और जो रुचिपूर्वक अध्ययन नहीं करना चाहते हों उन्हें ही न्यायग्रन्थ कठिन लगते हैं। अन्यथा उनमें कठिन लगने जैसा कुछ भी नहीं है।

न्यायग्रन्थ गूढ़-गम्भीर इसलिए होते हैं कि उनमें कोई दुनिया के राग-रंग की बातें या कोई किस्से, कहानी नहीं होती, अपितु अत्यन्त जटिल वस्तुस्वरूप का अत्यन्त सावधानीपूर्वक विश्लेषण और परीक्षण होता है। उसमें जरा-सी भी शिथिलता से अर्थ का अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। लोक में कोयला, कण, कंचन और कोहिनूर को तौलने में ही उत्तरोत्तर अधिक सावधानी की आवश्यकता मानी जाती है, तब यहाँ तो अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समीचीनतया समझने का महान् कार्य सिद्ध करना है, अतः न्याय-ग्रन्थों का गूढ़-गम्भीर होना स्वाभाविक है; परन्तु इस कारण से वे बहुत कठिन हैं और हम उन्हें नहीं समझ सकते— ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए और उनके अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

---

36. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण , 25/115
37. आचार्य सिद्धसेन, न्यायावतार, 32

तथा यहाँ तो हम न्याय के सामान्य ज्ञान की बात कर रहे हैं, जो बिल्कुल कठिन नहीं है और वस्तुस्वरूप के परिज्ञान हेतु अनिवार्यतः उपयोगी भी है, अतः उसके अध्ययन में प्रमाद करना उचित नहीं। जो लोग अपनी किसी प्रकार की अक्षमतावश न्याय के अनेक गूढ़ ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं, उन्हें भी न्याय का सामान्य ज्ञान तो अवश्य ही करना चाहिये। उसके बिना सिद्धि नहीं है।

प्रश्न :— यहाँ आपने हमें विविध प्रकार से न्यायशास्त्र के अभ्यास की प्रेरणा दी, परन्तु क्या किसी भी अपेक्षा से शास्त्रों में न्याय के अवलम्बन का निषेध नहीं किया गया है?

उत्तर :— किया गया है। तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है। स्पष्ट कहा है कि—

"तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।"[38]

अर्थ :— समय (आत्मा/सिद्धान्त/मत) को तत्त्वान्वेषण के समय युक्तिमार्ग (न्याय) से समझो, किन्तु उसकी आराधना (अनुभूति) के समय न्याय का अवलम्बन मत लो, क्योंकि अनुभूति तो प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) होती है।

यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है, क्योंकि अनुभूति निर्विकल्प होती है, जबकि न्याय विकल्परूप है।

किन्तु इस बहाने से भी न्यायशास्त्र के अभ्यास से बचने की चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्यायमार्ग के अवलम्बन का निषेध किया गया है— यह एकदम सच है, परन्तु यहीं प्रथम पंक्ति में जोर देकर यह भी तो कहा गया है कि तत्त्वान्वेषण के समय न्याय-मार्ग का अवलम्बन लो।

तत्त्व की अनुभूति से पूर्व तत्त्व का अन्वेषण अनिवार्य है। यदि तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं हुआ तो अनुभूति किसकी करोगे? अतः सर्वप्रथम न्याय का ज्ञान करके उसके आश्रय से तत्त्व का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

-वीरसागर जैन

38. माइल्ल धवल, नयचक्र, 268

मंगलाचरण

हे न्यायप्रवर्तक वृषभदेव !
मैं तुम्हें भक्ति से नमन करूँ।
स्व-पर-लाभ के हेतु न्याय का,
मन्दिर यह निर्माण करूँ ।। 1 ।।

पाण्डित्य-प्रदर्शन लक्ष्य नहीं है,
वाद-विवाद भी नहीं प्रभो !
केवल एक यही अभिलाषा,
सम्यक् बोध वस्तु का हो ।। 2 ।।

मुझे किसी से पक्ष नहीं है,
और किसी से द्वेष नहीं।
जिसके वचन युक्तिसंगत हैं,
मुझे प्रमाणित सिर्फ वही ।। 3 ।।

न्याय-ग्रन्थ पहले से हैं,
पर शिशुओं का अधिकार नहीं।
अतः सरल से सरल कृति में,
उन ग्रन्थों का सार लिखूँ ।। 4 ।।

सबको होवे ज्ञान न्याय का,
और तत्त्व का बोध प्रभो !
फिर विनाश हो राग-द्वेष का,
मिले ज्ञान-साम्राज्य प्रभो ।। 5 ।।

प्रथम द्वार

प्रश्न-1. न्याय किसे कहते हैं?

उत्तर– जिसके द्वारा वस्तु-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो उसे न्याय कहते हैं।[1] वस्तु-स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा होता है;[2] अतः न्याय को प्रमाण-नय स्वरूप कहा गया है– प्रमाणनयात्मको न्यायः।

---

1. (क) 'न्याय' की कुछ परिभाषाएँ पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री ने अपनी कृति 'जैन न्याय' में पृष्ठ–2 पर इस प्रकार उद्धृत की हैं–
   (i) 'नीयते ज्ञायते विवक्षितार्थोऽनेनेति न्यायः।' —न्यायकुसुमाञ्जलि
   (ii) 'नितरामीयन्ते गम्यन्ते गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् ज्ञायन्तेऽर्थाः अनित्यत्वास्तित्वादयोऽनेनेति न्यायः तर्कमार्गः।' —न्यायप्रवेशपञ्जिका
   (iii) 'निश्चितं च निर्बाधं च वस्तुतत्त्वमीयतेऽनेनेति न्यायः।'
   —न्यायविनिश्चयविवरण, 1/2, पृष्ठ 33

   (ख) 'नयप्रमाणात्मको न्यायः। नि पूर्वादिण् गतौ इत्यस्माद् धातोः करणे घञ् प्रत्यये न्यायशब्दसिद्धिः। नितरामीयते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः।'
   —प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण–2, पृष्ठ 3
   —न्यायदीपिका, टिप्पण–5, पृष्ठ 5

   (ग) 'न्यायो युक्तिः प्रमाणेन प्रमेयस्य घटना।'
   —आचार्य वसुनन्दि, आप्तमीमांसा वृत्ति, 13

   (घ) 'नीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन स न्यायः।'
   —डॉ. दरबारीलाल कोठिया, जैन न्याय की भूमिका, पृष्ठ 71

   (ङ) 'जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाय उसे न्याय कहते हैं। अर्थात् न्याय उन उपायों को कहते हैं जिनसे वस्तुतत्त्व का निश्चय हो। ऐसे उपाय 'तत्त्वार्थसूत्र' 1/6 में प्रमाण और नय दो ही निर्दिष्ट हैं।'
   —महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, न्यायविनिश्चयविवरण, प्रस्तावना, पृष्ठ 37

   (च) 'जाकरि निश्चय कीजिये, वस्तु प्रमेय अपार।
   सो तुमसे परगट भयो, न्यायशास्त्र रुचि धार।।'
   —सन्त कवि, सिद्धचक्रविधान 8/387

2. 'प्रमाणनयैरधिगमः।' —तत्त्वार्थसूत्र, 1/6

प्रश्न-2. प्रमाण और नय का विवेचन किस पद्धति से होता है?

उत्तर- प्रमाण और नय का विवेचन क्रमशः उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा द्वारा होता है।[3]

प्रश्न-3. उद्देश किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस वस्तु का विवेचन करना हो उसका नाममात्र कथन करना ही उद्देश है।[4]

प्रश्न-4. लक्षणनिर्देश किसे कहते हैं?

उत्तर- निर्दोष लक्षण को बतलाने का नाम लक्षणनिर्देश है।[5]

प्रश्न-5. निर्दोष लक्षण किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव –ये तीन दोष न पाये जाएँ, उसे निर्दोष लक्षण कहते हैं । अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव –ये तीन लक्षण के दोष हैं, अतः इन्हें लक्षणाभास भी कहते हैं ।[6]

प्रश्न-6. अव्याप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- लक्ष्य के एकदेश में ही पाये जाने को अव्याप्ति कहते हैं ।[7] अर्थात् जो लक्षण पूरे लक्ष्य में न पाया जाए अपितु लक्ष्य के एकदेश में ही पाया जाए, उस लक्षण को अव्याप्ति दोष से युक्त कहते हैं । यथा– श्वेतवर्ण को गाय का लक्षण बनाना अव्याप्ति दोष से युक्त है, क्योंकि श्वेतवर्ण सभी गायों में नहीं पाया जाता ।

प्रश्न-7. अतिव्याप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर- लक्ष्य और लक्ष्य के बाहर अलक्ष्य में भी पाये जाने का नाम अतिव्याप्ति है ।[8] जैसे– पशुत्व को गाय का लक्षण बनाना

---

3. (क) 'प्रमाणनयविवेचनमुद्देशलक्षणनिर्देशपरीक्षाद्वारेण क्रियते ।' —न्यायदीपिका, 1/2
   (ख) 'त्रयी हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा च।'—प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 1/1/1
4. (क) 'विवेक्तव्यवस्तुनाममात्रकथनमुद्देशः ।' —न्यायदीपिका, 1/3
   (ख) 'तत्र नामधेयमात्रकीर्तनमुद्देशः ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 1/1/1
5. (क) 'तस्य (लक्षणस्य) कथनं लक्षणनिर्देशः ।' —न्यायदीपिका, 1/5
   (ख) 'उद्दिष्टस्यासाधारणधर्म्मवचनं लक्षणम् ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 1/1/1
6. 'त्रयो लक्षणाभासभेदाः अव्याप्तमतिव्याप्तमसम्भवि चेति ।' —न्यायदीपिका, 1/5
7. 'लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम् ।' —न्यायदीपिका, 1/5
8. 'लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम् ।' —न्यायदीपिका, 1/5

अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि पशुत्व लक्ष्यभूत सभी गायों में भी पाया जाता है और गाय के अतिरिक्त भैंस आदि अलक्ष्य में भी पाया जाता है।

प्रश्न-8. असम्भव किसे कहते हैं?

उत्तर- लक्ष्य में सर्वथा न पाये जाने का नाम असम्भव है।[9] यथा- विषाण को मनुष्य का लक्षण कहना असम्भव दोष से युक्त है, क्योंकि मनुष्य में सींग सर्वथा नहीं पाये जाते।

प्रश्न-9. उक्त तीन दोषों से रहित निर्दोष लक्षण का क्या लक्षण है?

उत्तर- परस्पर मिली-जुली अनेक वस्तुओं में से एक अभीष्ट वस्तु को अलग कर देनेवाले हेतु (चिह्न विशेष) को लक्षण कहते हैं।[10] जैसे– अग्नि का लक्षण उष्णता।

प्रश्न-10. लक्षण कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर- लक्षण दो प्रकार के होते हैं– 1. आत्मभूत लक्षण, और 2. अनात्मभूत लक्षण।[11]

प्रश्न-11. आत्मभूत लक्षण किसे कहते हैं?

उत्तर- जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में सम्मिलित हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे– अग्नि का लक्षण उष्णता।[12]

प्रश्न-12. अनात्मभूत लक्षण किसे कहते हैं?

उत्तर- जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में सम्मिलित न हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे– देवदत्त का लक्षण दण्ड।[13]

प्रश्न-13. लक्षणज्ञान की क्या आवश्यकता है?

उत्तर- लक्षणज्ञान के द्वारा ही परस्पर मिलित वस्तुओं में से एक अभीष्ट

---

9. 'बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि ।' —न्यायदीपिका, 1/5
10. (क) 'व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् ।' —न्यायदीपिका, 1/3
    (ख) 'परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।'—तत्त्वार्थवार्तिकम्, 2/8
11. 'द्विविधं लक्षणमात्मभूतमनात्मभूतं चेति ।' —न्यायदीपिका, 1/4
12. 'यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्। यथाग्नेरौष्ण्यम् ।' —न्यायदीपिका, 1/4
13. 'तद्विपरीतमनात्मभूतम्। यथा दण्डः पुरुषस्य।' —न्यायदीपिका, 1/4

वस्तु (लक्ष्य) का समीचीन ज्ञान हो सकता है, अन्यथा नहीं।[14] यह जीव अनादिकाल से समीचीन लक्षणज्ञान के अभाव में ही स्व-पर के एकत्व के अध्यास के कारण अनन्त दुःख उठा रहा है।[15]

प्रश्न-14. परीक्षा किसे कहते हैं?

उत्तर- परस्पर विरुद्ध अनेक युक्तियों की प्रबलता एवं दुर्बलता का निर्धारण करने के लिए सावधानीपूर्वक जो विचार किया जाता है उसे परीक्षा कहते हैं।[16]

प्रश्न-15. परीक्षा का क्या महत्त्व है?

उत्तर- सत्य और असत्य अर्थ का निश्चय परीक्षा के द्वारा ही सम्भव है, उसके बिना नहीं।[17] परीक्षा-रहित व्यक्ति को सत्य भी असत्य और असत्य भी सत्य की तरह प्रतीत होता है।[18] परीक्षा के द्वारा

---

14. 'लक्षणप्रसिद्धया लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थम् ।... ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम्। नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः ।'
—आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, परिशिष्ट

15. 'अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात् कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति.......... ततः संसारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ।'
—आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, गाथा 312 से 314

16. (क) 'विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा ।'
—न्यायदीपिका, 1/6

(ख) 'लक्षितस्य इदमित्थं भवति नेत्थम्' इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा ।
—प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1

17. (क) 'जुत्तीए अत्थपडिगहणं ।' —तिलोयपण्णत्ति, 1/83

(ख) 'इसलिए परीक्षा करके जिनवचन की सत्यता पहिचान कर ही जिन-आज्ञा मानना योग्य है। बिना परीक्षा किये सत्य-असत्य का निर्णय कैसे हो?'
— पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 215

18. (क) 'जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ।।' —तिलोयपण्णत्ति, 1/82

(ख) 'प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् ।।' —धवला, 1/1/1/10

शीघ्र ही सत्य-असत्य का विवेक हो जाता है। अतः परीक्षा के द्वारा ही अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।[19]

लोक में भी परीक्षा का बहुत महत्त्व माना जाता है।[20]

प्रश्न-16. प्रमाण किसे कहते हैं? अथवा **'प्रमाण' शब्द की व्युत्पत्ति क्या है?**

उत्तर- जिसके द्वारा वस्तुतत्त्व को एकदम सही रूप में (संशयादि-रहित) जाना जाता है, पहचाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं।[21]

प्रश्न-17. वह प्रमाण क्या है? अथवा **प्रमाण का निर्दोष लक्षण क्या है?**

उत्तर- (क) स्व और अपूर्व अर्थ का व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रमाण है।[22]

(ख) सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।[23]

प्रश्न-18. प्रमाण के उक्त दो लक्षण बताने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर- प्रमाण के उक्त दोनों लक्षण जैनदर्शन के न्याय-ग्रन्थों में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं और दोनों ही पूर्णतः निर्दोष हैं। प्रथम लक्षण आचार्य माणिक्यनन्दि ने 'परीक्षामुखसूत्रम्' में प्रकट किया है और द्वितीय लक्षण श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति ने 'न्यायदीपिका' में एवं अन्य अनेक आचार्यों ने भी अपने ग्रन्थों में प्रकट किया है। प्रथम लक्षण परमत-खण्डन की विशेष विवक्षा से बनाया गया है, जबकि द्वितीय लक्षण में उसकी सामान्य विवक्षा है।

---

19. 'अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्।' —न्यायदीपिका, 1/2
20. (क) 'लोकशास्त्रयोरपि तथैव वस्तुविवेचनप्रसिद्धेः।' —न्यायदीपिका, 1/2
    (ख) 'ज्यों बजाज ढिंग राखिकैं, पट परखै परवीन।
    त्यों मत सों मत की परख, पावै पुरुष अमीन॥' —भूधरदास, जैनशतक, 100
21. 'प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणम्।'
    —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 1/1/1
    —प्रमेयरत्नमाला, सूत्र 1/1, पृष्ठ 14
22. 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 1/1
23. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।' —न्यायदीपिका, 1/8

प्रश्न-19. आपने कहा कि प्रमाण का प्रथम लक्षण परमत-खण्डन की विशेष विवक्षा से बनाया गया है; तो फिर तो उसके प्रत्येक पद का एक विशेषाभिप्राय होगा?

उत्तर- हाँ, उसके प्रत्येक पद का एक विशेषाभिप्राय है, जिसे विस्तार से जानने के लिए 'प्रमेयरत्नमाला' एवं 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' का अध्ययन करना चाहिए। तथापि संक्षेप में यहाँ कुछ कहा जा सकता है ।

प्रश्न-20. तो बताइए- प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'स्व' पद का प्रयोग किसलिए किया गया है?

उत्तर- प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'स्व' पद का प्रयोग उन (परोक्षज्ञानवादी मीमांसक, ज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादी यौग और अस्वसंवेदनज्ञानवादी सांख्यों) की मान्यता का निराकरण करने के लिए किया गया है जो ऐसा मानते हैं कि ज्ञान स्वयं को नहीं जानता है- अस्वसंवेदी होता है।[24]

प्रश्न-21. तो क्या ज्ञान स्वसंवेदी होता है- स्वयं को जानता है?

उत्तर- हाँ, ज्ञान स्वसंवेदी होता है- स्वयं को जानता है; परन्तु यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ज्ञान मात्र स्वसंवेदी नहीं होता, अपितु स्वपरसंवेदी होता है- स्वपरप्रकाशक होता है- स्व और पर दोनों को ही जानता है।

कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान चक्षु की भाँति स्वयं को नहीं जानता, पर को ही जानता है और कुछ कहते हैं कि ज्ञान पर को नहीं जानता, स्व को ही जानता है; परन्तु जैनदर्शन कहता है कि ज्ञान वस्तुतः दीपक की भाँति[25] स्व और पर दोनों को जानता है- स्वपरप्रकाशक है।

प्रश्न-22. प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'अपूर्व' पद का प्रयोग किसलिए किया गया है?

उत्तर- प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'अपूर्व' पद का प्रयोग गृहीतग्राही

---

24. 'परोक्षज्ञानवादिनां मीमांसकानामस्वसंवेदनज्ञानवादिनां सांख्यानां ज्ञानान्तरप्रत्यक्षवादिनां यौगानाञ्च मतमपाकर्तुं स्वपदोपादानम् ।' —प्रमेयरत्नमाला, सूत्र 1/1

25. 'प्रदीपवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 1/12

धारावाहिक ज्ञान की प्रमाणता के निराकरण हेतु किया गया है।[26]

प्रश्न-23. धारावाहिक ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- एक ही वस्तु में उसके अज्ञान को दूर करनेवाला प्रथम ज्ञान हो जाने पर भी पुनः पुनः उसी में प्रवृत्त होने वाले ज्ञान को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। जैसे- एक बार 'घट' का ज्ञान हो जाने पर भी पुनः पुनः 'यह घट है, यह घट है' -इत्यादि प्रकार का ज्ञान धारावाहिक ज्ञान है।[27]

प्रश्न-24. क्या यह धारावाहिक ज्ञान प्रमाण नहीं है?

उत्तर- नहीं, न्यायशास्त्र में इस धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जाता, क्योंकि यह प्रमिति के प्रति साधकतम नहीं होता- अज्ञान की निवृत्ति नहीं करता।[28]

प्रश्न-25. प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'अर्थ' पद का प्रयोग किसलिए किया गया है?

उत्तर- प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'अर्थ' पद का प्रयोग उन (विज्ञानाद्वैतवादी, पुरुषाद्वैतवादी और शून्यैकान्तवादियों) के निराकरण हेतु किया गया है जो बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं मानते हैं।[29]

प्रश्न-26. प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'व्यवसायात्मक' (निश्चयात्मक) पद का प्रयोग किसलिए किया गया है?

उत्तर- प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'व्यवसायात्मक' (निश्चयात्मक) पद का प्रयोग उन (बौद्धों) के निराकरण हेतु किया गया है जो ज्ञान

---

26. 'अस्य चापूर्वविशेषणं गृहीतग्राहिधारावाहिज्ञानस्य प्रमाणतापरिहारार्थमुक्तम् ।'
—प्रमेयरत्नमाला 1/1

27. 'एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽयं घटोऽयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि भवन्ति ।'
—न्यायदीपिका, 1/15

28. 'न ह्येतेषां प्रमितिं प्रति साधकतमत्वम् ।' —न्यायदीपिका, 1/15

29. 'तथा बहिरर्थापह्नोतृणां विज्ञानाद्वैतवादिनां पुरुषाद्वैतवादिनां पश्यतोहराणां शून्यैकान्तवादिनाञ्च विपर्यासव्युदासार्थमर्थग्रहणम् ।' —प्रमेयरत्नमाला, 1/1

को प्रमाण मानकर भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं।[30]

'व्यवसायात्मक' पद के प्रयोग द्वारा समारोप की प्रमाणता का भी निराकरण होता है।

प्रश्न-27. समारोप किसे कहते हैं?

उत्तर- संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का सामूहिक नाम समारोप है।[31]

प्रश्न-28. संशय किसे कहते हैं?

उत्तर- विरुद्ध अनेक कोटियों को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है।[32] जैसे–यह स्थाणु (ठूँठ) है या पुरुष; अथवा यह सीप है या चाँदी?

प्रश्न-29. विपर्यय किसे कहते हैं?

उत्तर- विपरीत एक कोटि को स्पर्श करने वाला ज्ञान विपर्यय है।[33] जैसे– स्थाणु में 'यह पुरुष है' –ऐसा ज्ञान होना; अथवा सीप में 'यह चाँदी है' –ऐसा ज्ञान होना।

प्रश्न-30. अनध्यवसाय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'कुछ है' –इस प्रकार के अनिश्चयात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं।[34] जैसे- मार्ग में चलते समय तृणस्पर्शादि का ज्ञान।

प्रश्न-31. प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'ज्ञान' पद का प्रयोग किसलिए किया गया है?

उत्तर- प्रमाण के प्रथम लक्षण में 'ज्ञान' पद का प्रयोग अज्ञान रूप

---

30. 'तथा ज्ञानस्यापि स्वसंवेदनेन्द्रियमनोयोगिप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वस्य प्रामाण्यं सौगतैः परिकल्पितं, तन्निरासार्थं व्यवसायात्मकग्रहणम् ।'
—प्रमेयरत्नमाला, 1/1

31. 'संशयविपर्ययानध्यवसायलक्षणसमारोपः ।' —प्रमेयरत्नमाला, टिप्पण–1/3

32. (क) 'विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः ।' —न्यायदीपिका, 1/9
(ख) 'अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/5

33. (क) 'विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः ।' —न्यायदीपिका, 1/9
(ख) 'अतस्मिंस्तदेवेति विपर्ययः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/5

34. (क) 'किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ।' —न्यायदीपिका, 1/9
(ख) 'विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/5

सन्निकर्षादि की प्रमाणता के निराकरण हेतु किया गया है।[35]

प्रश्न-32. 'सन्निकर्षादि' का क्या अभिप्राय है?

उत्तर- 'सन्निकर्षादि' का अभिप्राय यहाँ मुख्य रूप से सन्निकर्ष, कारकसाकल्य, इन्द्रियवृत्ति और ज्ञातृव्यापार समझना चाहिए।

प्रश्न-33. सन्निकर्ष क्या है? वह प्रमाण क्यों नहीं है?

उत्तर- सन्निकर्ष को नैयायिक और वैशेषिक लोग प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रियों का अर्थ (पदार्थ) के साथ सम्बन्ध होना ही सन्निकर्ष है और वही प्रमाण है। परन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है।

सन्निकर्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके अनेक कारण हैं। यथा–

(i) वह अज्ञानरूप है– अचेतनरूप है। जब इन्द्रियाँ भी अचेतन हैं और घटादि पदार्थ भी अचेतन हैं, तो उन दोनों का सन्निकर्षरूप सम्बन्ध भी अचेतन ही होगा।

(ii) चक्षु अप्राप्यकारी है। उसका अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होता। वह सन्निकर्ष के बिना ही पदार्थ को देखती है। सन्निकृष्ट अंजन और अंजनशलाका को नहीं जान पाती।

(iii) सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर संशयादि को भी प्रमाण मानना पड़ेगा, क्योंकि सन्निकर्ष वहाँ भी पाया जाता है।

(iv) सूक्ष्म, अन्तरित, दूरवर्ती और चेतन पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकेगा; क्योंकि उनका इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं होता।

(v) सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर कोई भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि त्रिलोक-त्रिकालवर्ती पदार्थों के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं हो सकता।

प्रश्न-34. कारकसाकल्य क्या है? वह प्रमाण क्यों नहीं है?

उत्तर- कारकसाकल्य को जरन्नैयायिक जयन्त भट्ट प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा, मन, अर्थ, आलोक, इन्द्रिय आदि जिन-जिन कारणों से अर्थ की उपलब्धि होती है उन सब की एकता—समग्रता का नाम ही कारकसाकल्य है और वही प्रमाण है।

---

35. 'ज्ञानमिति विशेषणमज्ञानरूपस्य सन्निकर्षादेर्नैयायिकादिपरिकल्पितस्य प्रमाण-त्वव्यवच्छेदार्थमुक्तम् ।' —प्रमेयरत्नमाला, 1/1

परन्तु उनकी मान्यता भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रथम तो कारकसाकल्य का ही कोई स्वरूप स्थिर नहीं होता है और यदि कुछ होता भी है तो वह भी अचेतनरूप सिद्ध होता है, जो स्व-पर-परिच्छित्ति में साधकतम नहीं हो सकता। स्व-पर-परिच्छित्ति में साधकतम तो अज्ञानविरोधी ज्ञान ही हो सकता है।

प्रश्न–35. इन्द्रियवृत्ति क्या है और वह प्रमाण क्यों नहीं है?

उत्तर– इन्द्रियवृत्ति को सांख्य प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रियवृत्ति का अर्थ है– इन्द्रियों का व्यापार। अर्थात् जब चक्षु आदि इन्द्रियाँ व्यापार करती हैं तभी पदार्थ का ज्ञान होता है, अतः वही प्रमाण है।

किन्तु उनकी मान्यता भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब इन्द्रियाँ अचेतन हैं तो उनका व्यापार भी अचेतन ही रहेगा। और जो अचेतन हो, वह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्व-पर-परिच्छित्ति में साधकतम नहीं हो सकता। स्व-पर-परिच्छित्ति में साधकतम तो अज्ञानविरोधी ज्ञान ही हो सकता है।

प्रश्न–36. ज्ञातृव्यापार क्या है और वह प्रमाण क्यों नहीं है?

उत्तर– ज्ञातृव्यापार को मीमांसक प्रमाण मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञाता अर्थात् आत्मा का व्यापार ही प्रमाण है, क्योंकि उसी से पदार्थ का ज्ञान होता है।

किन्तु उनकी मान्यता भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे आत्मा को स्वभावतः चेतन नहीं मानते, अपितु चेतना के समवाय से चेतन मानते हैं। अतः उनके अनुसार आत्मा स्वभावतः अचेतन ही सिद्ध होता है। तथा जब आत्मा ही अचेतन है तो उसका व्यापार भी अचेतन ही होगा। और जो अचेतन हो, वह प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्व-पर-परिच्छित्ति में साधकतम नहीं हो सकता। स्व-पर-परिच्छित्ति में साधकतम तो अज्ञानविरोधी ज्ञान ही हो सकता है।

प्रश्न–37. जैनदर्शन के अनुसार एक ज्ञान को ही प्रमाण मानना क्यों समीचीन है?

उत्तर– ज्ञान को ही प्रमाण मानना इसलिए समीचीन है, क्योंकि उसी के

द्वारा पदार्थ का सम्यक् ज्ञान होता है। तथा ज्ञान ही हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार में समर्थ है।[36]

प्रश्न–38. प्रमाण का प्रामाण्य किसे कहते हैं?

उत्तर– प्रमाण का कर्म ही प्रामाण्य है, जो पदार्थ के निश्चय करने रूप होता है।[37]

अथवा– प्रमाण द्वारा ज्ञात पदार्थ की यथार्थता (सत्यता) ही प्रमाण का प्रामाण्य है।[38]

प्रश्न–39. प्रमाण के प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होती है?

उत्तर– प्रमाण के प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः ही होती है।[39]

प्रश्न–40. प्रमाण के प्रामाण्य की ज्ञप्ति कैसे होती है?

उत्तर– प्रमाण के प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्त विषय में स्वतः होती है और अनभ्यस्त विषय में परतः होती है।[40]

प्रश्न–41. अभ्यस्त और अनभ्यस्त का क्या तात्पर्य है?

उत्तर– अपने ग्राम के तालाबादि परिचित स्थान अभ्यस्त हैं और अन्य अपरिचित स्थान अनभ्यस्त हैं।[41]

---

36. 'हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 1/2
37. 'प्रमाणकर्म प्रामाण्यं परिच्छित्तिलक्षणम्।' —न्यायविनिश्चयविवरण, 1/128
38. 'किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम? प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वम्।' —न्यायदीपिका, 1/18
39. 'प्रामाण्यमपि परतः एवोत्पद्यते।' —न्यायदीपिका, 1/19
40. (क) 'तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 1/13
    (ख) 'कथं तस्य ज्ञप्तिः? अभ्यस्ते विषये स्वतः अनभ्यस्ते तु परतः।' —न्यायदीपिका, 1/20
    (ग) 'प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/8
    —न्यायदीपिका, 1/20
41. 'परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः।' —न्यायदीपिका, 1/20

प्रश्न-42. 'प्रमाण के प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्त विषय में स्वतः होती है और अनभ्यस्त विषय में परतः होती है' –इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– जैसे– एक व्यक्ति हस्तिनापुर गया। मार्ग में उसे प्यास लगी। वह जलाशय खोजता हुआ चलने लगा। थोड़ी दूर चलने पर उसे शीतल वायु का स्पर्श हुआ और कमलों की सुगन्ध भी आने लगी। उसे लगा कि इधर पास में ही कोई सरोवर होना चाहिए। उसी समय एक वृद्ध पुरुष भी उधर से आ निकला। उसने उससे पूछा– 'हे महाशय! क्या इधर कोई जलाशय है?' वृद्ध पुरुष ने उत्तर दिया– 'हाँ, इधर थोड़ी ही दूरी पर एक शीतल-मधुर जल से परिपूर्ण सरोवर है।' पथिक सरोवर के पास चला गया और शीतल-मधुर जल पीकर तृप्त हो गया।

थोड़े दिन बाद कार्यवश वह पुनः हस्तिनापुर गया। इस बार भी मार्ग में उसे प्यास लगी, परन्तु अब उसे किसी से कुछ नहीं पूछना पड़ा। वह स्वयं ही अपनी तीव्र गति से उस अमृत-सरोवर के पास पहुँच गया और जलपान कर तृप्त हो गया।

यहाँ प्रथम बार जाने पर होने वाले सरोवरज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति अनभ्यस्त (अपरिचित) विषय में होने के कारण परतः हुई और द्वितीय बार जाने पर होने वाले सरोवरज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्त (परिचित) विषय में होने के कारण स्वतः हुई।

❑❑

द्वितीय द्वार

प्रश्न-1. प्रमाण के कितने भेद हैं? कौन-कौन?

उत्तर- प्रमाण के दो भेद हैं- 1. प्रत्यक्ष, और 2. परोक्ष ।[1]

प्रश्न-2. प्रत्यक्ष प्रमाण का क्या लक्षण है?

उत्तर- विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं ।[2]

प्रश्न-3. विशद ज्ञान का क्या अर्थ है?

उत्तर- विशद का अर्थ होता है- निर्मल या स्पष्ट । दूसरे ज्ञान के व्यवधान (सहायता) बिना ही विशेषता से होने वाले निर्मल प्रतिभास को विशद ज्ञान कहते हैं ।[3]

प्रश्न-4. विशदता का यहाँ क्या अभिप्राय है?

उत्तर- जो ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा क्षय अथवा विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होती है और शब्द व अनुमानादि से नहीं हो सकती है, उस अनुभवसिद्ध निर्मलता को ही विशदता कहते हैं। विशदता, निर्मलता और स्पष्टता -ये सब एकार्थवाची हैं ।[4]

प्रश्न 5. अन्य दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण का क्या लक्षण माना गया है और वह क्यों समीचीन नहीं है?

उत्तर- विभिन्न दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण निम्नानुसार माना गया है-

---

1. (क) 'तद्द्वेधा। प्रत्यक्षेतरभेदात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 2/1-2
   (ख) 'प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं परोक्षं चेति ।' —न्यायदीपिका, 2/1
2. (क) 'विशदं प्रत्यक्षम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम् 2/3
   (ख) 'विशदप्रतिभासं प्रत्यक्षम् ।' —न्यायदीपिका, 2/1
3. (क) 'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम् 2/4
   (ख) 'प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशद्यम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/14
4. 'ज्ञानावरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसंभवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम्, ... स एव नैर्मल्यं वैशद्यं स्पष्टत्वमित्यादिभिः शब्दैरभिधीयते ।' —न्यायदीपिका, 2/2

नैयायिक प्रत्यक्ष का लक्षण यह मानते हैं–

'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।'[5]

अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न हो, अव्यपदेश्य हो, अव्यभिचारी हो और व्यवसायात्मक हो वह प्रत्यक्ष है। किन्तु यह समीचीन नहीं है, क्योंकि इन्द्रियार्थसम्बन्धरूप सन्निकर्ष अज्ञानरूप ही सिद्ध होता है और उसमें व्यभिचार भी बहुत देखा जाता है।[6] सन्निकर्ष प्रमाण ही नहीं सिद्ध होता है, प्रत्यक्ष प्रमाण तो दूर की बात है।[7]

बौद्ध प्रत्यक्ष का लक्षण यह मानते हैं–

'प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्।'[8]

अर्थात् जो ज्ञान निर्विकल्पक और अभ्रान्त हो वह प्रत्यक्ष है। किन्तु यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उनका जो ज्ञान निर्विकल्पक है वह तो व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) न होने से प्रमाण भी नहीं है, प्रत्यक्ष की बात तो दूर है।[9]

मीमांसक प्रत्यक्ष का लक्षण यह मानते हैं–

'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।'[10]

अर्थात् पदार्थ से इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर पुरुष को उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है।

परन्तु यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि संशयादि ज्ञान भी पदार्थ से इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर ही उत्पन्न होते हैं, जो अप्रमाण

---

5. महर्षि अक्षपाद गौतम, न्यायसूत्र, 1/4
6. 'कथं ह्यज्ञानरूपाः सन्निकर्षादयोऽर्थपरिच्छित्तौ साधकतमा भवन्ति व्यभिचारात्?'
   —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/29
7. देखो– इसी कृति के प्रथम द्वार में प्रश्न–33 का उत्तर।
8. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, 1/4
9. 'निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यमेव दुर्लभम् समारोपाविरोधित्वात्, कुतः प्रत्यक्षत्वम्?'
   —न्यायदीपिका 2/3
10. जैमिनीसूत्र, 1/1/4

हैं।[11] तथा इसमें भी लगभग वे ही सभी दोष उपस्थित होते हैं जो सन्निकर्ष में गिनाये जा चुके हैं।

सांख्य प्रत्यक्ष का लक्षण यह मानते हैं-

'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्।'[12] अर्थात् सम्मुख स्थित विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष है।

किन्तु यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यह लक्षण अनुमान में भी पाया जाता है।[13]

प्रश्न-6. प्रत्यक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं? कौन-कौन?

उत्तर- प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं[14]-

1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष -इसका अपर नाम इन्द्रियप्रत्यक्ष भी है।
2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष -इसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष या मुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं।[15]

प्रश्न-7. इनके अतिरिक्त एक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी तो होता है?

उत्तर- हाँ, होता है; किन्तु वह उक्त दोनों से अलग नहीं है, उन्हीं में अन्तर्गर्भित है। यथा- इन्द्रियजज्ञान के स्वसंवेदन का इन्द्रियजप्रत्यक्ष में, मनोनिमित्तक ज्ञान के स्वसंवेदन का मनोनिमित्तकप्रत्यक्ष में और योगि-प्रत्यक्षस्वसंवदेन का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्भाव हो जाता है। स्मृति आदि ज्ञानों का स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्ष में अन्तर्गर्भित है।[16]

---

11. 'संशयविपर्ययबुद्धिजन्मनोऽपीन्द्रियसम्प्रयोगे सति प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिः ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/29
12. ईश्वर कृष्ण, सांख्यकारिका-5
13. 'तदप्यनुमानेन व्यभिचरित्वादलक्षणम् ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/29
14. 'तत्प्रत्यक्षं द्विविधं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति ।' —न्यायदीपिका, 2/11
15. 'मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत् ।' —न्यायदीपिका, 2/13
16. 'ननु स्वसंवेदनरूपमन्यदपि प्रत्यक्षमस्ति तत् कस्मान्नोक्तम्? इति न वाच्यम्। इन्द्रियजज्ञानस्वसंवेदनस्येन्द्रियप्रत्यक्षे, अनिन्द्रियजसुखादिसंवेदनस्य मनःप्रत्यक्षे, योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावात्। स्मृत्यादिस्वसंवेदनं तु मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम प्रत्यक्षमस्तीति भेदेन नोक्तम् ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/20

प्रश्न-8. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर- जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है उसे लोकव्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से प्रसिद्ध होने के कारण सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।[17]

प्रश्न-9. 'सांव्यवहारिक' शब्द का क्या अभिप्राय है?

उत्तर- समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार को संव्यवहार (सम्+व्यवहार) कहते हैं। यह संव्यवहार जिसका प्रयोजन हो उसे सांव्यवहारिक कहते हैं।[18]

प्रश्न-10. यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में आपने केवल इन्द्रिय और मन को ही ज्ञान का कारण बताया है, पदार्थ और प्रकाश को भी तो बताना चाहिए था?

उत्तर- नहीं, पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं हैं; क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता है।[19]

प्रश्न-11. वह किस प्रकार?

उत्तर- यदि पदार्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण हों तो उनके होने पर ज्ञान होना ही चाहिए (अन्वय) और उनके अभाव में ज्ञान नहीं ही होना चाहिए (व्यतिरेक); परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। रात्रि में विचरण करने वाले मार्जार (बिल्ली) आदि को प्रकाश के अभाव में भी ज्ञान होता है और उल्लू आदि को दिन में प्रकाश होने पर भी ज्ञान नहीं होता है, अतः प्रकाश को ज्ञान का कारण नहीं माना

---

17. (क) 'इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतो सांव्यवहारिकम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 2/5
    (ख) 'यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः ।....... लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात् ।' —न्यायदीपिका, 2/11-12
    (ग) 'इन्द्रियमनोनिमित्तोऽवग्रहेहावायधारणात्मा सांव्यवहारिकम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/20
18. 'समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारस्तत्प्रयोजनं सांव्यवहारिकम् प्रत्यक्षम् ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति, 1/1/20
19 (क) 'नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवत् नक्तंचरज्ञानवच्च ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 2/6-7
    (ख) 'नार्थालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र, 1/1/25

जा सकता। इसीप्रकार पदार्थ को भी ज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसके अभाव में भी केशमशकादि ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है।[20]

तथा यदि पदार्थ और प्रकाश को ज्ञान का परम्परा कारण माना जाए तो उसमें आपत्ति नहीं है, क्योंकि जिसप्रकार अंजन आदि पदार्थ नेत्र का उपकार करते हैं उसी प्रकार बाह्य पदार्थ और प्रकाश भी ज्ञानावरण के क्षयोपशम में परम्परा से उपकारी कहे जाते हैं।[21]

प्रश्न-12. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं? कौन-कौन?

उत्तर- सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद हैं- 1. अवग्रह, 2. ईहा, 3. अवाय, और 4. धारणा।[22]

प्रश्न-13. अवग्रह किसे कहते हैं?

उत्तर- इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर, सामान्यावलोकन रूप दर्शन के तुरन्त बाद, जो पदार्थ का अवान्तर सत्ता रूप ज्ञान होता है उसे अवग्रह कहते हैं। जैसे- यह पुरुष है।[23]

प्रश्न-14. ईहा किसे कहते हैं?

उत्तर- अवग्रह के द्वारा ज्ञात हुये पदार्थ को विशेष जानने के लिए ज्ञाता का जो अभिलाषात्मक प्रयत्न होता है उसे ईहा कहते हैं। जैसे-

---

20. 'अर्थस्यालोकवज्ज्ञानकारणानुपपत्तेः। तद्यथा- अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारणभावः। तत्रालोकस्तावन्न ज्ञानकारणम्, तदभावेऽपि नक्तञ्चराणां मार्जरादीनां ज्ञानोत्पत्तेः, तदभावेऽपि च घूकादीनां तदनुत्पत्तेः। तद्वदर्थोऽपि न ज्ञानकारणम्, तदभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः।' —न्यायदीपिका, 2/4

21. 'बाह्यो विषयः प्रकाशश्च न चक्षुर्ज्ञानस्य साक्षात्कारणं, देशकालादिवत्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते, ज्ञानावरणादिक्षयोपशमसामग्र्यामारादुपकारित्वेनाञ्जनादिवच्चक्षुरुपकारित्वेन चाभ्युपगमात्।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/25

22. 'तच्चतुर्विधम्-अवग्रहः, ईहा, अवायः, धारणा चेति।' —न्यायदीपिका, 2/11

23. (क) 'इन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानन्तरभावी सत्तावांतरजातिविशिष्ट वस्तुग्रही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः।' —न्यायदीपिका, 2/11

(ख) 'अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/26

यह पुरुष दाक्षिणात्य होना चाहिए।[24]

प्रश्न-15. अवाय किसे कहते हैं?

उत्तर- ईहा द्वारा ज्ञात पदार्थ का विशेष ज्ञान द्वारा यथार्थ निश्चय होना अवाय है। जैसे- यह पुरुष दाक्षिणात्य ही है।[25]

प्रश्न-16. धारणा किसे कहते हैं?

उत्तर- अवाय द्वारा ज्ञात वस्तु का जिस कारण से कालान्तर में विस्मरण नहीं होता, उसे धारणा कहते हैं।[26]

प्रश्न-17. पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर- सर्वतः निर्मल ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।[27]

प्रश्न-18. पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं?

उत्तर- पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- विकल और सकल।[28]

प्रश्न-19. विकल प्रत्यक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर- जो कुछ ही पदार्थों को विषय करता है वह विकल प्रत्यक्ष है।[29]

प्रश्न-20. विकल प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं?

उत्तर- विकल प्रत्यक्ष के दो भेद हैं- 1. अवधिज्ञान, और 2. मनःपर्ययज्ञान।[30]

प्रश्न-21. अवधिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले मूर्तिक पदार्थ के ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[31]

---

24. (क) 'अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यत्नमीहा।' —न्यायदीपिका, 2/11
    (ख) 'अवग्रहगृहीतविशेषकांक्षणमीहा।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/27
25. (क) 'विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः।' —न्यायदीपिका, 2/11
    (ख) 'ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/28
26. (क) 'कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा।' —न्यायदीपिका, 2/11
    (ख) 'स्मृतिहेतुर्धारणा।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/29
27. 'सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्।' —न्यायदीपिका, 2/13
28. 'तद् द्विविधम् - विकलं सकलं च।' —न्यायदीपिका, 2/13
29. 'तत्र कतिपयविषयं विकलम्।' —न्यायदीपिका, 2/13
30. 'तदपि द्विविधं – अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च।' —न्यायदीपिका, 2/13
31. 'तत्रावधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्र-विषयमवधिज्ञानम्।' —न्यायदीपिका, 2/13

अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा से युक्त रूपी पदार्थ के ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।[32]

अवधिज्ञान को शास्त्रों में सीमाज्ञान भी कहा गया है।[33]

प्रश्न-22. मन:पर्ययज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- मन:पर्ययज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।[34]

प्रश्न-23. अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान दोनों ही रूपी पदार्थ को जानते हैं, तब उनमें अन्तर क्या है?

उत्तर- विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा उक्त दोनों ज्ञानों में बहुत अन्तर है।[35] यथा-

विशुद्धि- अवधिज्ञान से मन:पर्ययज्ञान अधिक विशुद्ध है।

क्षेत्र- अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्त है, परन्तु मन:पर्ययज्ञान का क्षेत्र मनुष्य लोक ही है।

स्वामी- अवधिज्ञान संयमी, असंयमी और संयमासंयमी को सर्व गतियों में स्वभाव है; परन्तु मन:पर्ययज्ञान मनुष्यगति में ही, वह भी उत्कृष्ट चारित्रवाले (6 से 12 तक गुणस्थान वाले) मुनि को ही होता है। उसमें भी वर्धमान परिणाम वाले को ही होता है। वर्धमान परिणामवालों में भी ऋद्धिप्राप्त को ही होता है। ऋद्धिप्राप्त में भी किसी-किसी को ही होता है, सबको नहीं।

---

32. 'तत्र अवधीयत इति मर्यादा, सा च 'रूपिष्वधे:' इति वचनात् रूपवद् द्रव्यविषया अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधि: ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/18
33. 'अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णिदं समए।' —पंचसंग्रह (प्राकृत), अधिकार 1, गाथा-123
34. (क) 'मन:पर्ययज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्थं परमनोगतार्थविषयं मन: पर्ययज्ञानम्।' —न्यायदीपिका, 2/13
    (ख) 'मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायानुचिन्तनानुगुणा: परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं मन:पर्याय।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/18
35. (क) 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमन:पर्यययो: ।' —तत्त्वार्थसूत्र, 1/25
    (ख) 'विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेद: ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/19

विषय- अवधिज्ञान समस्त रूपी पदार्थों को जान सकता है, यद्यपि उनकी सर्वपर्यायों को नहीं जानता, परन्तु मनःपर्ययज्ञान उसके अनन्तवें भाग को ही अपना विषय बनाता है।[36]

प्रश्न-24. सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस पारमार्थिक प्रत्यक्ष का विषय सर्वद्रव्य-पर्याय है उसे सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।[37]

प्रश्न-25. सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के कितने भेद हैं? कौन-कौन?

उत्तर- सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष एक केवलज्ञान ही है, उसके अन्य कोई भेद नहीं हैं।[38]

प्रश्न-26. केवलज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो ज्ञान सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है

---

36. (क) 'तत्रावधेर्मनःपर्ययो विशुद्धतरः। कुतः? सूक्ष्मविषयत्वात्। क्षेत्रमुक्तं। विषयो वक्ष्यते। स्वामित्वं प्रत्युच्यते। प्रकृष्टचारित्रगुणोपेतेषु वर्तते प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु। तत्र चोत्पाद्यमानः प्रवर्द्धमानचारित्रेषु न हीयमानचारित्रेषु। प्रवर्द्धमानचारित्रेषु चोत्पद्यमानः सप्तविधान्यतमर्द्धिप्राप्तेषूपजायते नेतरेषु। ऋद्धिप्राप्तेषु केषुचिन्न सर्वेषु। इत्यस्यायं स्वामिविशेषो।' —सर्वार्थसिद्धि, 1/25

(ख) 'तत्रावधिज्ञानान्मनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम्। यानि हि मनोद्रव्याणि अवधिज्ञानी जानीते तानि मनःपर्ययज्ञानी विशुद्धतराणि जानीते। क्षेत्रकृतश्चानयोर्भेदः— अवधिज्ञानमंगुलस्यासंख्येयभागादिषु भवति आ सर्वलोकात्, मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति। स्वामिकृतोऽपि-अवधिज्ञानं संयतस्यासंयतस्य संयतासंयतस्य च सर्वगतिषु भवति, मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्य प्रकृष्टचारित्रस्य प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु गुणस्थानकेषु भवति। तन्नापि वर्धमानपरिणामस्य नेतरस्य। वर्धमानपरिणामस्यापि ऋद्धिप्राप्तस्य नेतरस्य। ऋद्धिप्राप्तस्यापि कस्यचिन्न सर्वस्येति। विषयकृतश्च-रूपवद्द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धस्तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य इति।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/19

37. 'सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम्।' —न्यायदीपिका, 2/14

38. (क) 'तच्च घातिसंघातनिरवशेषघातनसमुन्मीलितं केवलज्ञानमेव।' —न्यायदीपिका, 2/14

(ख) 'केवलणाणमेयविधं, कम्मक्खएण उप्पज्जमाणत्तादो।' —धवला, पुस्तक-12, खंड-4, भाग-2, सूत्र-14

उसे केवलज्ञान कहते हैं।[39]

सर्व आवरणों के नष्ट हो जाने पर चेतना के स्वरूप का पूर्ण आविर्भाव ही केवलज्ञान है।[40]

प्रश्न–27. आपने यहाँ जो अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा, सो किस प्रकार है; क्योंकि 'अक्ष' शब्द का अर्थ तो 'इन्द्रियाँ' होता है, अतः जो ज्ञान इन्द्रियों से हो उसे ही प्रत्यक्ष कहना चाहिए?

उत्तर– 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियाँ' ही नहीं, 'आत्मा' भी होता है। यहाँ 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'इन्द्रियाँ' न लेकर 'आत्मा' लेना चाहिए।[41]

अवधि, मनःपर्यय और केवल –ये तीनों ज्ञान मात्र आत्मा से ही होते हैं, इन्द्रिय-प्रकाशादि की सहायता से नहीं; अतः इनको प्रत्यक्ष कहना उचित है।[42]

प्रश्न–28. क्या सर्व द्रव्यों और उनकी सर्व पर्यायों को प्रत्यक्ष जानना सम्भव है?

उत्तर– हाँ, सम्भव है; क्योंकि सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायें अनुमेय (अनुमान का विषय) हैं। जो जो अनुमेय होता है, वह प्रत्यक्ष अवश्य होता है।[43]

प्रश्न–29. क्या ऐसा सर्वद्रव्य-पर्यायों को प्रत्यक्ष जाननेवाला केवलज्ञान किसी जीव के सम्भव है?

उत्तर– हाँ; ऐसा ज्ञान यद्यपि कपिलादि के नहीं होता, तथापि अरिहंत

---

39. 'सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ।' —तत्त्वार्थसूत्र 1/29

40. 'तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्यं केवलम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/15

41. (क) संस्कृत–हिन्दी–कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ–4
(ख) 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा ।' —सर्वार्थसिद्धि, 1/2

42. 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति ।' —न्यायदीपिका 2/19

43. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ।।' —आप्तमीमांसा, कारिका 5

परमेष्ठी के अवश्य होता है; क्योंकि अरिहंत परमेष्ठी निर्दोष हैं।[44]

प्रश्न-30. अरिहंत परमेष्ठी निर्दोष हैं– इसका क्या हेतु है?

उत्तर– अरिहंत परमेष्ठी निर्दोष इसलिए हैं, क्योंकि उनके राग-द्वेष एवं अज्ञान नहीं हैं।[45] उनके वचन युक्ति व शास्त्र से अविरोधी हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित सम्पूर्ण वस्तुव्यवस्था प्रमाणसिद्ध है। उसमें कहीं किसी प्रमाण से बाधा नहीं उत्पन्न होती है।[46]

प्रश्न-31. यह केवलज्ञान अरिहंत के अतिरिक्त कपिलादि में क्यों नहीं पाया जाता?

उत्तर– क्योंकि वे निर्दोष नहीं हैं, अपितु सदोष हैं।

प्रश्न-32. वे सदोष हैं –इसका क्या हेतु है?

उत्तर– वे सदोष इसलिए हैं, क्योंकि उनके राग-द्वेष एवं अज्ञान हैं। उनके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तु-व्यवस्था प्रमाणबाधित है।[47]

प्रश्न-33. क्या राग-द्वेष और अज्ञान का पूर्णतः अभाव हो सकता है?

उत्तर– हाँ, हो सकता है। होता ही है, क्योंकि वाह्याभ्यन्तर कारणों से इनकी हानि–वृद्धि देखी जाती है।

जिसप्रकार स्वर्णपाषाण को तपाने से उसके मल की हानि होती जाती है और उसकी शुद्धि की वृद्धि होती जाती है, अतः सिद्ध होता है कि एक अवसर ऐसा भी आ सकता है जब उसके मल की पूर्ण हानि हो जाए और उसकी शुद्धि की पूर्ण वृद्धि हो जाए। उसीप्रकार वाह्याभ्यन्तर कारणों से आत्मा के राग–द्वेष व अज्ञानादि की हानि और ज्ञानादि की वृद्धि देखी जाती है, अतः सिद्ध होता

---

44. 'केवलज्ञानं तावत्किञ्चिज्ज्ञानां कपिलादीनामसम्भवदप्यर्हतः सम्भवत्येव ।'
—न्यायदीपिका, 2/20

45. 'आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम् ।' —न्यायदीपिका, 2/25

46. 'स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ।।' —आप्तमीमांसा, कारिका 6

47. 'त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ।।' —आप्तमीमांसा, कारिका 7

है कि एक क्षण ऐसा भी आ सकता है जब इन राग-द्वेष व अज्ञानादि की पूर्णतः हानि हो जाए और ज्ञानादि की पूर्णतः वृद्धि हो जाए।[48]

प्रश्न-34. यह केवलज्ञान इन्द्रियजन्य होता है या अतीन्द्रिय?

उत्तर- केवलज्ञान अतीन्द्रिय ही होता है, इन्द्रियजन्य नहीं; क्योंकि यदि वह इन्द्रियजन्य हो तो सर्वद्रव्य-पर्यायों को नहीं जान सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषय में ही प्रवृत्ति कर सकती हैं, सूक्ष्म-अन्तरित-दूरवर्ती पदार्थों को वे नहीं जान सकती।[49]

प्रश्न-35. सूक्ष्म, अन्तरित, दूरवर्ती पदार्थ किसे कहते हैं?

उत्तर- जो स्वभाव से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। जैसे– परमाणु आदि। जो काल से विप्रकृष्ट (दूर) हो, उन्हें अन्तरित कहते हैं। जैसे– राम-रावण आदि। जो क्षेत्र से विप्रकृष्ट (दूर) हों, उन्हें दूरवर्ती कहते हैं। जैसे– सुमेरु पर्वत आदि।[50]

प्रश्न-36. क्या ऐसे सकल प्रत्यक्ष ज्ञान का धारक सर्वज्ञ कोई हो भी सकता है?

उत्तर- हाँ, हो सकता है। होता ही है। उसमें क्या बाधा है? कोई बाधा नहीं है।[51]

प्रश्न-37. मुझे तो दोनों ही तरह से बाधा दिखाई दे रही है। प्रत्यक्ष से भी और अनुमान से भी?

उत्तर- प्रत्यक्ष से सर्वज्ञ की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती। अच्छा, बताओ— सर्वज्ञ इस देश, इस काल में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते या सर्वदेश-सर्वकाल में ही नहीं दिखाई देते? यदि इस देश, इस

---

48. 'दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्योर्बहिरन्तर्मलक्षयः ।।' —आप्तमीमांसा, कारिका 4

49. (क) 'यदि तज्ज्ञानमैन्द्रियकं स्यादशेषविषयं न स्यात्, इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः। सूक्ष्मादीनां च तदयोग्यत्वादिति ।' —न्यायदीपिका, 2/22
(ख) 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम् 2/12

50. 'सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः रामादयः, दूराः देशविप्रकृष्टाः मेर्वादयः ।' —न्यायदीपिका, 2/22

51. 'बाधकाभावाच्च ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/17

काल में नहीं दिखाई देते –ऐसा कहते हो तो हमें स्वीकार ही है; परन्तु 'सर्वदेश-सर्वकाल में ही सर्वज्ञ नहीं है' –ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि यदि तुम सर्वदेश-सर्वकाल को देखे बिना ही ऐसा कहोगे कि सर्वदेश-सर्वकाल में सर्वज्ञ नहीं है तो तुम्हारी बात अप्रामाणिक सिद्ध होगी और यदि सर्वदेश-सर्वकाल को देखकर कहोगे तो तुम स्वयं ही सर्वज्ञ सिद्ध होओगे।[52]

प्रश्न-38. अनुमान से सर्वज्ञसिद्धि में बाधा आती है। यथा- अमुक पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है, या क्योंकि वह पुरुष है। जो वक्ता या पुरुष होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे राहगीर।

उत्तर- नहीं। यह अनुमान भी सर्वज्ञ की सिद्धि में बाधक नहीं है। आइए, इसका विचार करते हैं।

आपने दो हेतु प्रस्तुत किये हैं- 1. वक्तृत्व और 2. पुरुषत्व। दोनों हेतुओं का क्रमशः विचार करते हैं-

1. **वक्तृत्व** - वक्तृत्व के तीन विकल्प सम्भव हैं- 1. प्रमाणसिद्ध वक्तृत्व, 2. प्रमाणविरुद्ध वक्तृत्व और 3. वक्तृत्व सामान्य।

इनमें से यदि प्रथम पक्ष लिया जाए तो हेतु विरुद्ध है; क्योंकि प्रमाणसिद्ध वक्तृत्व सर्वज्ञता का बाधक नहीं है, अपितु साधक है, क्योंकि ऐसा उत्कृष्ट वक्तृत्व सर्वज्ञ में ही हो सकता है। लोक में भी ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वक्तृत्व का उत्कर्ष देखा जाता है। यदि द्वितीय पक्ष लिया जाए तो सिद्धसाधन है, क्योंकि प्रमाण-विरुद्ध वक्ता को हम ही सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते। तथा यदि तृतीय पक्ष लिया जाए तो सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्ति होने से अनैकान्तिक

---

52. (क) 'नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः, खरविषाणवत्। तत्र प्रत्युत्तरं— किमत्र देशे काले अनुपलब्धेः। सर्वदेशे सर्वकाले वा। यद्यत्र देशेऽत्र काले नास्ति तदा सम्मत एव। अथ सर्वदेशकाले नास्तीति भण्यते तज्जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं कथं ज्ञातं भवता? ज्ञातं चेत्तर्हि भवानेव सर्वज्ञः। अथ न ज्ञातं तर्हि निषेधः कथं क्रियते?' —वृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका 50

(ख) सिद्धिविनिश्चय, 8

(ग) प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/17

है, क्योंकि वक्तृत्वसामान्य सर्वज्ञ में भी पाया जा सकता है।

2. **पुरुषत्व** – पुरुषत्व के भी तीन विकल्प सम्भव हैं – 1. रागादि से अदूषित पुरुषत्व, 2. रागादि से दूषित पुरुषत्व और 3. पुरुषत्व सामान्य।

इनमें से यदि प्रथम पक्ष लिया जाए तो आपका हेतु विरुद्ध सिद्ध होता है, क्योंकि रागादि से अदूषित पुरुषत्व सर्वज्ञता के बिना सम्भव नहीं है। यदि द्वितीय पक्ष लिया जाए तो हेतु सिद्धसाध्य है क्योंकि रागादि से दूषित पुरुष को हम ही सर्वज्ञ नहीं मानते। यदि तृतीय पक्ष लिया जाए तो सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्ति है, क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ पुरुषत्व का कोई विरोध नहीं है।[53]

❐❐

53. 'न चानुमानं तद्बाधकं सम्भवति,......... यतो यदि प्रमाणपरिदृष्टार्थवक्तृत्वं हेतुः तदा विरुद्धः तादृशस्य वक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव भावात् अथासद्भूतार्थवक्तृत्वं तदा सिद्धसाध्यता, प्रमाणविरुद्धार्थवादीनामसर्वज्ञत्वेनेष्टत्वात्। वक्तृत्वमात्रत्वं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकं ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वापकर्षादर्शनात्, प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वक्तृत्वातिशयस्यैवोपलब्धेः। एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम्। पुरुषत्वं हि यदि रागाद्यदूषितं तदा विरुद्धं, ज्ञानवैराग्यादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्य सर्वज्ञतामन्तरेणानुपपत्तेः। रागादिदूषिते तु पुरुषत्वे सिद्धसाध्यता। पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमित्यबाधकम्।'
—प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/1/17

तृतीय द्वार

प्रश्न-1. परोक्ष प्रमाण का क्या लक्षण है?

उत्तर - अविशद (अस्पष्ट, अनिर्मल) ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।[1]

प्रश्न-2. परोक्ष प्रमाण के कितने भेद हैं?

उत्तर- परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं- 1. स्मृति, 2. प्रत्यभिज्ञान, 3. तर्क, 4. अनुमान, और 5. आगम।[2]

प्रश्न-3. क्या परोक्ष प्रमाण के उक्त पाँचों भेदों के क्रम का कोई विशेष अर्थ है?

उत्तर- हाँ, परोक्ष प्रमाण के उक्त पाँचों भेदों के क्रम का विशेष अर्थ यह है कि स्मृति को पूर्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं स्मृति की अपेक्षा होती है, तर्क को प्रत्यक्ष, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा होती है, अनुमान को प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान एवं तर्क की अपेक्षा होती है और आगम को संकेत, स्मरण आदि की अपेक्षा होती है।

प्रश्न-4. स्मृति किसे कहते हैं?

उत्तर- जो ज्ञान पूर्वानुभूत वस्तु को 'वह' –इस रूप से विषय बनाता है, उसे स्मृति कहते हैं।[3]

---

1. (क) 'अविशदप्रतिभासं परोक्षम् ।' —न्यायदीपिका, 3/1
   (ख) 'अविशदः परोक्षम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/1
2. (क) 'प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/2
   (ख) 'तत् पञ्चविधं – स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं, तर्कः, अनुमानम्, आगमश्चेति ।' —न्यायदीपिका, 3/3
   (ग) 'स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विधयः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/2
3. (क) 'संस्कारोद्‌बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/3
   (ख) 'तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः ।' —न्यायदीपिका, 3/4
   (ग) 'वासनोद्‌बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/3

प्रश्न-5. प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जो ज्ञान प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के संकलन (जोड़) रूप होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।[4]

प्रश्न-6. प्रत्यभिज्ञान के कितने भेद हैं?

उत्तर- प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद हैं। यथा- एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान, प्रातियोगिकप्रत्यभिज्ञान, इत्यादि।[5]

प्रश्न-7. एकत्वप्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्व हो, उसे एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे- यह वही देवदत्त है।[6]

प्रश्न-8. सादृश्यप्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्यभिज्ञान का विषय सादृश्य हो, उसे सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं।[7] जैसे- यह नीलगाय भी हमारी गाय जैसी ही है।

प्रश्न-9. वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस प्रत्यभिज्ञान का विषय वैसादृश्य हो, उसे वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे- यह भैंस गाय से विलग है।[8]

इसे वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं।

---

4. (क) 'दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/5
   (ख) अनुभवस्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।'—न्यायदीपिका, 3/8
   (ग) 'दर्शनस्मरणसम्भवं.... संकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।'—प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/4
5. (क) 'तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/5
   (ख) 'एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञानभेदाः यथाप्रतीतिः स्वयमुत्प्रेक्ष्याः ।' —न्यायदीपिका, 3/9
   (ग) 'दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/4
6. 'जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः । तदिदमेकत्व-प्रत्यभिज्ञानम् ।' —न्यायदीपिका, 3/9
7. 'पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं गवयनिष्ठसादृश्यम् । तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम् ।' —न्यायदीपिका, 3/9
8. 'प्रागनुभूतगोप्रतियोगिकं महिषनिष्ठं वैसादृश्यं। तदिदं वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानम् ।' —न्यायदीपिका, 3/9

प्रश्न–10. प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर– जिस प्रत्यभिज्ञान का विषय प्रातियोगिक हो, उसे प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे– यह उससे दूर है।[9]

इसीप्रकार 'यह उससे पास है', 'यह उससे छोटा है', 'यह उससे बड़ा है', 'यह उससे पतला है', 'यह उससे मोटा है', 'यह उससे मीठा है', 'यह उससे खट्टा है', इत्यादि सभी को प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान समझना चाहिए; क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष और स्मरण का प्रतियोगिता रूप संकलन है।

प्रश्न–11. तर्क किसे कहते हैं?

उत्तर– व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।[10]

तर्क का दूसरा नाम 'ऊह' भी है।[11]

प्रश्न–12. व्याप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर– साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलानेवाले सुनिश्चित सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहते हैं। जैसे– धुएं की अग्नि के साथ व्याप्ति है; क्योंकि धुआं अग्नि के होने पर ही होता है, और अग्नि के नहीं होने पर नहीं ही होता है।[12]

ध्यान रहे— व्याप्ति सर्वोपसंहारवती होती है, उसमें देश–काल की कोई सीमा नहीं होती।[13]

---

9. 'इदमस्माद्दूरम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/6
10. (क) 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/7
    (ख) 'व्याप्तिज्ञानं तर्कः ।' —न्यायदीपिका, 3/15
    (ग) 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/5
11. 'ऊह इति तर्कस्यैव व्यपदेशान्तरम् ।' —न्यायदीपिका, 3/15
12. (क) 'साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो व्याप्तिः ।' —न्यायदीपिका, 3/15
    (ख) 'इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति। यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/8-9
13. (क) 'तर्कस्तां व्याप्तिं सकलदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति ।' —न्यायदीपिका, 3/15
    (ख) 'सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः ।' —न्यायदीपिका, 3/16

प्रश्न-13. क्या व्याप्ति को किसी अन्य नाम से भी कहा जाता है?

उत्तर- हाँ, व्याप्ति का अपर नाम 'अविनाभाव' भी है।[14] व्याप्ति अस्तिपरक कथन है और अविनाभाव नास्तिपरक।

प्रश्न-14. अविनाभाव का अर्थ क्या है?

उत्तर- अविनाभाव का अर्थ है– साध्य के बिना साधन का न होना। अ+विना+भाव (होना)।

प्रश्न-15. अविनाभाव के कितने भेद हैं?

उत्तर- अविनाभाव के दो भेद हैं– सहभावनियम और क्रमभावनियम।[15]

प्रश्न-16. सहभावनियम किसे कहते हैं?

उत्तर- सहचारी और व्याप्य-व्यापक रूप पदार्थों में सहभावनियम होता है।[16] जैसे– रूप और रस में सहभावनियम है। नीम और वृक्ष में भी सहभावनियम है।

प्रश्न-17. क्रमभावनियम किसे कहते हैं?

उत्तर- पूर्वोत्तरचारी और कार्य-कारण रूप पदार्थों में क्रमभावनियम होता है।[17] जैसे– रविवार और सोमवार में क्रमभावनियम है।

प्रश्न-18. इस अविनाभाव या व्याप्ति का निश्चय किससे होता है?

उत्तर- अविनाभाव या व्याप्ति का निश्चय तर्क से ही होता है।[18]

---

14. (क) 'तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्या: व्याप्ते: ।' —न्यायदीपिका, 3/15
    (ख) 'एतामेव (व्याप्तिमेव) साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति ।' —न्यायदीपिका, 3/64
    (ग) 'व्याप्तिर्हि साध्यसाधनयोरविनाभाव: ।' —न्यायकुमुदचन्द्र, पृष्ठ 418-19
15. (क) 'सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव: ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/12
    (ख) 'सहक्रमभाविनो: सहक्रमभावनियमोऽविनाभाव: ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/10
16. 'सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव: ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/13
17. 'पूर्वोत्तरचारिणो: कार्यकारणयोश्च क्रमभाव: ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/14
18. (क) 'तर्कात्तन्निर्णय: ।' —परीक्षामुखसूत्रम् 3/15
    (ख) 'स च तर्कस्तां व्याप्तिं सकलदेशकालोपसंहारेण विषयीकरोति ।' —न्यायदीपिका 3/15
    (ग) 'ऊहात् तन्निश्चय: ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/11

प्रश्न-19. क्या तर्क के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता?

उत्तर- नहीं। देखो—

1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष तो व्याप्ति का निश्चायक हो नहीं सकता, क्योंकि इन्द्रियनिमित्तक होने से उसकी प्रवृत्ति सन्निहित विषय तक ही सीमित होती है।
2. पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो अनुमेय पदार्थ को साक्षात् ही जान लेता है, उसे अनुमान की आवश्यकता ही नहीं है।
3. यदि अनुमान को ही व्याप्ति का निश्चायक माना जाए तो अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष आते हैं।

अतः व्याप्ति का निश्चायक एक तर्क को ही मानना चाहिए।[19]

प्रश्न-20. अनुमान किसे कहते हैं?

उत्तर- साधन (या हेतु) से साध्य का ज्ञान होना ही अनुमान है।[20]

प्रश्न-21. साधन किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) हो, उसे साधन कहते हैं।[21]

प्रश्न-22. साध्य कैसा होता है?

उत्तर- साध्य शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध होता है। शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को क्रमशः अबाधित, इष्ट और असिद्ध भी कहते हैं।[22]

---

19. (क) न्यायदीपिका, 3/17
    (ख) प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/2/10
20. (क) 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/14
    (ख) 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।' —न्यायदीपिका, 3/19
    (ग) 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/7
21. (क) 'निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम् ।' —न्यायदीपिका, 3/21
22. (क) 'इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/16
    (ख) 'शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम् ।' —न्यायदीपिका, 3/22
    (ग) 'सिसाधयिषितमसिद्धमबाध्यं साध्यं पक्षः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/13

प्रश्न-23. शक्य (अबाधित) किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध किया जा सके, उसे शक्य कहते हैं।[23]

प्रश्न-24. अभिप्रेत (इष्ट) किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसे सिद्ध करना वादी को अभीष्ट हो, उसे अभिप्रेत कहते हैं।[24]

प्रश्न-25. अप्रसिद्ध (असिद्ध) किसे कहते हैं?

उत्तर- जो प्रतिवादी को सन्देह आदि के कारण स्पष्ट न हो- सिद्ध न हो, उसे अप्रसिद्ध कहते हैं।[25]

प्रश्न-26. अनुमान के कितने भेद हैं?

उत्तर- अनुमान के दो भेद हैं- (1) स्वार्थानुमान, तथा (2) परार्थानुमान।[25]

प्रश्न-27. स्वार्थानुमान किसे कहते हैं?

उत्तर- परोपदेश के बिना ही स्वयमेव होने वाला अनुमान (साधन से साध्य का ज्ञान) स्वार्थानुमान है।[26]

प्रश्न-28. परार्थानुमान किसे कहते हैं?

उत्तर- परोपदेश से होनेवाला अनुमान (साधन से साध्य का ज्ञान) परार्थानुमान है।[27]

---

23. 'यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्।' —न्यायदीपिका, 3/22
24. 'वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्।' —न्यायदीपिका, 3/22
24. 'सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्।' —न्यायदीपिका, 3/22
25. (क) 'तदनुमानं द्वेधा। स्वार्थपरार्थभेदात्।' —परीक्षामुखसूत्रम् 3/48-49
    (ख) 'तदनुमानं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च।' —न्यायदीपिका, 3/25
    (ग) 'तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/8
26. (क) 'स्वयमेव निश्चितात्साधनात् साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्।'—न्यायदीपिका, 3/25
    (ख) 'स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम्।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/9
27. (क) 'परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्।' —न्यायदीपिका, 3/31
    (ख) 'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/51

प्रश्न–29. अनुमान के कितने अंग (अवयव) हैं? कौन–कौन?

उत्तर– अनुमान के दो अंग (अवयव) हैं– 1. प्रतिज्ञा, और 2. हेतु।

प्रश्न–30. 'न्यायदीपिका' (3/24) में तो अनुमान के तीन अंग गिनाये गये हैं- 1. धर्मी, 2. साध्य, और 3. साधन।

उत्तर– वह भी ठीक है। दोनों में कोई मूलभूत अंतर नहीं है, मात्र कथन पद्धति का अन्तर है। इसे जरा ध्यान से समझिये– साधन तो हेतु का अपर नाम है ही। रही बात धर्मी और साध्य की, सो ये दोनों प्रतिज्ञा के ही दो अंश हैं, जिनको यहाँ भेद-विवक्षा से पृथक्-पृथक् गिना दिया गया है। बस!

इस बात को स्वयं न्यायदीपिकाकार ने भी स्पष्ट भी किया है। यथा- 'तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मिसाध्यसाधनभेदात् त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं वेति सिद्धम्, विवक्षायाः वैचित्र्यात्। पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा, उत्तरत्र तु तत्समुदायविवक्षा।'[28]

भावार्थ यह है कि धर्म-धर्मी की भेद-विवक्षा से अनुमान के तीन अंग कहे हैं– धर्म, साध्य और साधन। तथा धर्म-धर्मी की अभेद-विवक्षा से अनुमान के दो अंग कहे हैं– 1. पक्ष (पक्ष के कथन को ही प्रतिज्ञा कहते हैं।), और 2. साधन (हेतु)।

जैन-न्याय के अधिकांश ग्रन्थों में अनुमान के अंगों का विवेचन करते हुए अभेद-विवक्षा का ही आश्रय लिया गया है, अतः यहाँ भी यह कहा गया है कि अनुमान के दो ही अंग हैं- 1. प्रतिज्ञा, और 2. हेतु।

ध्यान रहे, उदाहरणादि अनुमान के अंग नहीं हैं।[29]

प्रश्न–31. 'उदाहरणादि' का क्या तात्पर्य है?

उत्तर– उदाहरण, उपनय और निगमन –इन तीनों को 'उदाहरणादि' कहा गया है। उदाहरण को कहीं-कहीं सामान्य अपेक्षा से दृष्टान्त भी कहा गया है।

---

28. न्यायदीपिका, 3/27

29. 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/33

प्रश्न-32. तो क्या वास्तव में उदाहरण और दृष्टान्त में कोई अन्तर है?

उत्तर- हाँ, वास्तव में उदाहरण और दृष्टान्त में अन्तर है। दृष्टान्त के वचन (कथन) को उदाहरण कहते हैं।[30]

प्रश्न-33. दृष्टान्त किसे कहते हैं?

उत्तर- जहाँ साध्य-साधन रूप दोनों धर्मों को अन्वय या व्यतिरेक रूप से देखा जावे, उस स्थान को दृष्टान्त कहते हैं।[31]

प्रश्न-34. दृष्टान्त के कितने भेद हैं?

उत्तर- दृष्टान्त के दो भेद हैं– 1. अन्वय दृष्टान्त, 2. व्यतिरेक दृष्टान्त।[32] इनको क्रमशः साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त भी कहते हैं।[33]

प्रश्न-35. अन्वय दृष्टान्त किसे कहते हैं?

उत्तर- जहाँ साध्य के साथ साधन की व्याप्ति दिखाई जावे वह अन्वय दृष्टान्त है।[34]

प्रश्न-36. व्यतिरेक दृष्टान्त किसे कहते हैं?

उत्तर- जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाया जावे, वह व्यतिरेक दृष्टान्त है।[35]

---

30. (क) 'दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ।' —न्यायदीपिका, 3/34
    (ख) 'दृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 2/1/13
31. 'दृष्टौ अन्तौ साध्यसाधनलक्षणौ धर्मौ अन्वयमुखेन व्यतिरेकद्वारेण वा यत्र स दृष्टान्तः ।' —प्रमेयरत्नमाला, 3/43
32. 'दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/43
33. 'स साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वेधा ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/21
34. (ख) 'अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः ।' —न्यायदीपिका, 3/34
    (क) 'साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/44
    (ग) 'साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ।'—प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/22
35. (क) 'व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः ।' —न्यायदीपिका, 3/34
    (ख) 'साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/45
    (ग) 'साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी वैधर्म्यदृष्टान्तः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/23

प्रश्न-37. उपनय किसे कहते हैं?

उत्तर- हेतु के उपसंहार (दुहराने) को ही उपनय कहते हैं।[36]

प्रश्न-38. निगमन किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रतिज्ञा के उपसंहार (दुहराने) को ही निगमन कहते हैं।[37]

प्रश्न-39. ये उदाहरणादि अनुमान के अंग क्यों नहीं हैं?

उत्तर- क्योंकि इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। सम्यक् हेतु का प्रयोग करने से ही साध्यसिद्धि हो जाती है।[38]

प्रश्न-40. फिर भी उदाहरण के प्रयोग में क्या आपत्ति है?

उत्तर- उदाहरण के प्रयोग से विवाद एवं सन्देह की बहुत सम्भावना रहती है, क्योंकि उदाहरण व्यक्तिरूप होता है और व्याप्ति सर्वोपसंहारवती। तथा यदि उदाहरण में हुये विवाद को सुलझाने के लिए अन्य-अन्य उदाहरण का प्रयोग किया जाए तो अनवस्था दोष आता है।[39]

प्रश्न-41. तो क्या उदाहरणादि का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए?

उत्तर- नहीं, ऐसा नहीं है। मन्दबुद्धि या जिज्ञासु जीवों को समझाने के लिए वीतराग कथा में उदाहरणादि का प्रयोग किया जा सकता है।

---

36. (क) 'हेतोरुपसंहारः उपनयः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/46
    (ख) 'साधनस्योपसंहार उपनयः।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 2/1/14
37. (क) 'प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/47
    (ख) 'साध्यस्य निगमनम्।' —प्रमाणमीमांसा, 2/1/15
38. (क) 'न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/34
    (ख) 'न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्ग। साधनमात्रात् तत्सिद्धेः।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/18-19
39. (क) 'तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/38
    (ख) 'व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्याद् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/36
    (ख) 'न दृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम्। साधनमात्रात् तत्सिद्धेः।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/2/18-19

किन्तु विजिगीषु कथा में उदाहरणादि का प्रयोग वर्जित ही है।[40] यहाँ विजिगीषु कथा की अपेक्षा ही अनुमान के अंगों का कथन हो रहा है। न्यायशास्त्र में अधिकांश कथन विजिगीषु कथा की अपेक्षा ही किये जाते हैं।[41]

प्रश्न–42. विजिगीषु कथा किसे कहते हैं?

उत्तर– वादी-प्रतिवादी के बीच स्वमतमण्डन या परमतखण्डन के लिए जय-पराजय की भावना से चलने वाला वचन-व्यापार विजिगीषु कथा है।[42] इसे 'वाद' भी कहते हैं।[43]

प्रश्न–43. वीतराग कथा किसे कहते हैं?

उत्तर– गुरु-शिष्य अथवा राग-द्वेष-रहित विद्वानों के बीच, तत्त्वनिर्णय के लिए होने वाला वचन-व्यापार वीतराग–कथा है।[44]

प्रश्न–44. तो क्या अब हम इस बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि विजिगीषु कथा में अनुमान के दो अंग होते हैं– प्रतिज्ञा और हेतु, तथा वीतराग कथा में अनुमान के पाँच अंग होते हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन?

उत्तर– नहीं, ऐसा कहना भी पूर्णतः उचित नहीं है, क्योंकि वीतराग कथा में भी अनुमान के उक्त पाँचों अंगों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया ही जाए– यह कोई आवश्यक नहीं। जिज्ञासु व्यक्ति की योग्यतानुसार कहीं प्रतिज्ञा और हेतु –ये दो अंग होते हैं, कहीं प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण –ये तीन अंग होते हैं, कहीं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय –ये चार अंग होते हैं और कहीं प्रतिज्ञा,

---

40. 'बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात्।'
—परीक्षामुखसूत्रम्, 3/42

41. 'तर्के मुख्यवृत्या परसमयव्याख्यानम्।' —वृहद द्रव्यसंग्रह-टीका 44

42. 'वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा।' —न्यायदीपिका, 3/36

43. 'विजिगीषुकथा वाद इति चोच्यते।' —न्यायदीपिका, 3/36

44. 'गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा।' —न्यायदीपिका, 3/36

हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन –ये पाँचों अंग होते हैं।[45] परन्तु यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि विजिगीषु कथा में अनुमान के दो ही अंग होते हैं– 1. प्रतिज्ञा, और 2. हेतु। बस!

प्रश्न-45. प्रतिज्ञा किसे कहते हैं?

उत्तर- पक्ष के वचन (कथन) को प्रतिज्ञा कहते हैं।[46]

प्रश्न-46. पक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर- साध्यधर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते हैं। धर्मी का ही दूसरा नाम पक्ष है।[47]

प्रश्न-47. धर्मी किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसमें साध्यरूप धर्म पाया जावे उसे धर्मी कहते हैं।[48] जैसे- पर्वत में अग्नि सिद्ध करना हो तो पर्वत धर्मी कहलाएगा।

प्रश्न-48. हेतु किसे कहते हैं?

उत्तर- जिसका साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित हो उसे हेतु कहते हैं।[49] जैसे- धुआँ का अग्नि के साथ अविनाभाव निश्चित है, अतः धुआँ अग्नि का गमक हेतु बन जाता है।

प्रश्न-49. हेतु और साधन में कोई अन्तर है या दोनों एक ही हैं?

उत्तर- स्थूल रूप से दोनों को एक कह सकते हैं, कहते ही हैं; परन्तु सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो दोनों में थोड़ा अन्तर है। साधन के

---

45. (क) 'वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन प्रतिज्ञाहेतू द्वावयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय-निगमनानि वा पञ्चेति यथायोगप्रयोगपरिपाटी ।' —न्यायदीपिका, 3/38
(ख) 'बोध्यानुरोधात् प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 2/1/10

46. (क) 'पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा ।' —न्यायदीपिका, 3/33
(ख) 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 2/1/11

47. 'पक्ष इति यावत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/22

48. 'धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन ।' —न्यायदीपिका, 3/26

49. (क) 'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/11
(ख) 'साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः ।' —न्यायदीपिका, 3/33

वचन (कथन) को हेतु कहते हैं।[50]

प्रश्न-50. क्या एक अविनाभाव ही हेतु का लक्षण है?

उत्तर- हाँ, एक अविनाभाव ही हेतु का लक्षण है। इसे अन्यथानुपपत्ति या तथोपपत्ति भी कहते हैं।

प्रश्न-51. 'अन्यथानुपपत्ति' और 'तथोपपत्ति' का क्या अर्थ है?

उत्तर- ये दोनों शब्द साध्य-साधन के अविनाभाव नियम को ही बतानेवाले महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द हैं।

अन्यथानुपपत्ति का अर्थ है- अन्यथा (साध्य के न होने पर) अनुपपत्ति (न होना) अर्थात् साध्य के न होने पर साधन का नहीं होना। तथोपपत्ति का अर्थ है- तथा (साध्य के होने पर) उपपत्ति (होना) अर्थात् साध्य के होने पर ही साधन का होना।

तात्पर्य यह है कि साध्य के न होने पर साधन का न होना अन्यथानुपपत्ति है और साध्य के होने पर ही साधन का होना तथोपपत्ति है। और यही अविनाभाव का तात्पर्य है। अतः अन्यथानुपपत्ति, तथोपपत्ति या अविनाभाव ही हेतु का एक समीचीन लक्षण है।

प्रश्न-52. बौद्ध हेतु का लक्षण त्रिरूप मानते हैं- पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। उसका क्या तात्पर्य है और वह क्यों मिथ्या है?

उत्तर- बौद्ध कहते हैं कि किसी भी हेतु में अग्रलिखित तीन विशेषताएँ अवश्य पाई जानी चाहिए तभी वह सम्यक् हेतु हो सकता है, अन्यथा नहीं— 1. पक्षसत्त्व - वह पक्ष में रहता हो, 2. सपक्षसत्त्व- सपक्ष में भी रहता हो, और 3. विपक्षव्यावृत्ति-विपक्ष में नहीं रहता हो। साध्य धर्म से युक्त धर्मी को पक्ष कहते हैं, साध्य के समान धर्म वाले धर्मी को सपक्ष कहते हैं और साध्य से विरोधी धर्म वाले धर्मी को विपक्ष कहते हैं। जैसे— 'यह पर्वत अग्निवाला है क्योंकि घूमवाला है' —इस अनुमान में पर्वत पक्ष है, रसोईघरादि

---

50. 'साधनवचनं हेतुः।' -न्यायदीपिका 3/33

सपक्ष हैं और समुद्रादि विपक्ष हैं। तथा उक्त अनुमान में ही धूम अग्नि का साधक हेतु इसीलिए है क्योंकि वह पर्वतरूप पक्ष में पाया जाता है (पक्षसत्त्व), रसोई आदि सपक्ष में भी पाया जाता है (सपक्षसत्त्व) और समुद्रादि विपक्ष में नहीं पाया जाता है (विपक्षव्यावृत्ति)।

किन्तु बौद्धों का ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि एक अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का पर्याप्त व समीचीन लक्षण सिद्ध होता है, फिर चाहे उक्त त्रैरूप्य (पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति) रहे या न रहे। यथा–

1. 'कल सोमवार होगा, क्योंकि आज रविवार है' – इस अनुमान में रविवार हेतु सोमवार रूप पक्ष में नहीं पाया जाता, फिर भी उसका कल आने वाले सोमवार से क्रमभावरूप अविनाभाव है– अन्यथानुपपत्ति है, अतः वह समीचीन हेतु है ही।

2. 'गर्भस्थ मैत्रीपुत्र श्याम है, क्योंकि वह मैत्रीपुत्र है, अन्य मैत्री पुत्रों की तरह' – इस अनुमान में, 'मैत्रीपुत्रत्व' हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति – तीनों विशेषताएँ पाई जाती हैं, फिर भी अन्यथानुपपत्ति न होने के कारण यह समीचीन हेतु नहीं है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि हेतु का समीचीन लक्षण एक अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति ही है, पक्षसत्त्वादि त्रैरूप्य नहीं। यही आचार्य पात्रस्वामी ने भी कहा है—

'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?'[51]

प्रश्न–53. नैयायिक हेतु का लक्षण पञ्चरूप मानते हैं– पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्ष। उसका क्या तात्पर्य है और वह क्यों मिथ्या है?

उत्तर– नैयायिक कहते हैं कि किसी भी हेतु में अग्रलिखित पाँच विशेषताएँ अवश्य पाई जानी चाहिए, तभी वह सम्यक् हेतु हो सकता है, अन्यथा नहीं– 1. पक्षसत्त्व, 2. सपक्षसत्त्व, 3. विपक्षव्यावृत्ति,

---

51. न्यायदीपिका, 3/50

4. अबाधितविषयत्व और 5. असत्प्रतिपक्षत्व। इनमें प्रारम्भ की तीन तो वे ही हैं जो बौद्ध मानते हैं, पर चौथी अबाधितविषयत्व और पाँचवीं असत्प्रतिपक्ष उनसे अलग है। साध्य के अभाव का निश्चायक प्रबल प्रमाण न होना अबाधितविषयत्व है और उसी प्रकार के समबल प्रमाण का न होना असत्प्रतिपक्षत्व है। जैसे– 'यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है'– इस अनुमान में धूम अग्नि का साधक हेतु इसीलिए है क्योंकि उसमें उक्त पाञ्चरूप्य पाया जाता है। यथा– वह पर्वतरूप पक्ष में पाया जाता है (पक्षसत्त्व), रसोई आदि सपक्ष में भी पाया जाता है (सपक्षसत्त्व), समुद्रादि विपक्ष में नहीं पाया जाता (विपक्षव्यावृत्ति), उसका साध्य विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं है (अबाधितविषयत्व) और वहाँ अग्नि के अभाव का साधक तुल्य बल वाला कोई प्रमाण नहीं है (असत्प्रतिपक्षत्व)।

किन्तु नैयायिकों का ऐसा मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि एक अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का पर्याप्त व समीचीन लक्षण सिद्ध होता है, फिर चाहे उक्त पाञ्चरूप्य रहे या न रहे। कहा भी है–

'अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥'[52]

प्रश्न–54. हेतु के कितने भेद हैं?

उत्तर– हेतु के मूल भेद दो हैं– 1. विधिरूप, और 2. निषेधरूप। जो हेतु भावरूप– सत्तारूप (Positive) हो, उसे विधिरूप हेतु कहते हैं। जो हेतु अभावरूप– असत्तारूप (Negative) हो, उसे निषेधरूप हेतु कहते हैं।

किन्तु ये दोनों ही (विधिरूप और निषेधरूप) हेतु कभी विधि (भाव, सत्ता, Positive) के साधक होते हैं और कभी निषेध (अभाव, असत्ता, Negative) के, अतः इस अपेक्षा से इनके दो-

52. न्यायदीपिका, 3/53

दो भेद और हो जाते हैं।[53] यथा–

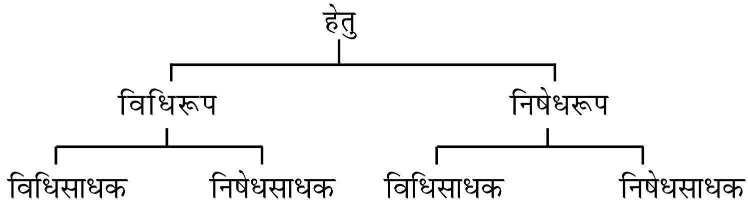

अत: हम यह भी कह सकते हैं कि हेतु के मूलभेद 4 होते हैं–

1. **विधिसाधक विधिरूप हेतु–** जो हेतु स्वयं भी विधिरूप हो और उसका साध्य भी विधिरूप हो।
2. **निषेधसाधक विधिरूप हेतु**- जो हेतु स्वयं तो विधिरूप हो, पर उसका साध्य निषेधरूप हो।
3. **विधिसाधक निषेधरूप हेतु**- जो हेतु स्वयं तो निषेधरूप हो, पर उसका साध्य विधिरूप हो।
4. **निषेधसाधक निषेधरूप हेतु**- जो हेतु स्वयं भी निषेधरूप हो और उसका साध्य भी निषेधरूप हो।

ध्यातव्य है कि न्याय-ग्रन्थों में हेतु के उक्त चारों भेदों को ही क्रमश: अविरुद्धोपलब्धि, विरुद्धोपलब्धि, विरुद्धानुपलब्धि और अविरुद्धानुपलब्धि –इन नामों से भी कहा गया है; अत: हमें हेतु के 4 भेदों के नाम इस प्रकार स्मृति में रखने योग्य हैं–

1. विधिसाधक विधिरूप हेतु अथवा अविरुद्धोपलब्धि हेतु।
2. निषेधसाधक विधिरूप हेतु अथवा विरुद्धोपलब्धि हेतु।
3. विधिसाधक निषेधरूप हेतु अथवा विरुद्धानुपलब्धि हेतु।
4. निषेधसाधक निषेधरूप हेतु अथवा अविरुद्धानुपलब्धि हेतु।

---

53. (क) 'स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् । उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।'
—परीक्षामुखसूत्रम्, 3/53-54

(ख) 'हेतु: संक्षेपतो द्विविध: विधिरूप: प्रतिषेधरूपश्चेति । विधिरूपो द्विविध: विधिसाधक:, प्रतिषेधसाधकश्चेति । ---प्रतिषेधरूपोऽपि हेतुर्द्विविध: विधिसाधक: प्रतिषेधसाधकश्चेति ।' —न्यायदीपिका, 3/54 व 60

प्रश्न-55. विधिसाधक विधिरूप (अविरुद्धोपलब्धि) हेतु के कितने भेद हैं? समझाइये।

उत्तर- विधिसाधक विधिरूप (अविरुद्धोपलब्धि) हेतु के 6 भेद हैं[54]–

1. व्याप्य (विशेष)– जैसे– यह वृक्ष है, क्योंकि सीसम है। यहाँ वृक्ष व्यापक है और सीसम व्याप्य है, जिनमें से व्याप्य को व्यापक का हेतु बनाया गया है, अतः यह व्याप्य हेतु है।[55]

2. कार्य– जैसे– यह पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि धूमवाला है। यहाँ धूम अग्नि का कार्य है। वह अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के बिना नहीं होता है।[56] अतः यह कार्य हेतु है।

3. कारण– जैसे– नीचे छाया है, क्योंकि यहाँ छत्र है।[57] यहाँ छत्र कारण है छाया का, अतः यह कारण हेतु है।

4. पूर्वचर– जैसे– कल सोमवार होगा, क्योंकि आज रविवार है। यहाँ रविवार पूर्वचर है सोमवार का, अतः यह पूर्वचर हेतु है।[58]

5. उत्तरचर– जैसे– आज रविवार है, क्योंकि कल सोमवार होगा। यहाँ सोमवार उत्तरचर है रविवार का, अतः यह उत्तरचर हेतु है।[59]

6. सहचर– जैसे– इस आम में रूप है, क्योंकि रस है। यहाँ रस रूप का सहचर है, अतः यह सहचर हेतु है।[60]

प्रश्न-56. निषेधसाधक विधिरूप (विरुद्धोपलब्धि) हेतु के कितने भेद हैं? समझाइये।

उत्तर- निषेधसाधक विधिरूप (विरुद्धोपलब्धि) हेतु के भी वे ही 6 भेद हैं। अन्तर मात्र इतना है कि वहाँ ये विधि (सद्भाव, सत्ता,

---

54. 'अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/55

55. 'वृक्षोऽयं शिंशपात्वान्यथानुपपत्तेः ।' —न्यायदीपिका, 3/56

56. 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः ।' —न्यायदीपिका, 3/54

57. 'अस्त्यत्रच्छाया छत्रात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/63

58. 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/64

59. 'उद्गाद् भरणिः प्राक्तत एव ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/65

60. 'अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/66

Positive) के साधक थे और यहाँ निषेध (अभाव, असत्ता, Negative) के । यथा–

1. व्याप्य– जैसे– यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है।[61]

2. कार्य– जैसे– यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।[62]

3. कारण– जैसे–इस प्राणी में सुख नहीं है, क्योंकि हृदयशल्य है।[63]

4. पूर्वचर– जैसे– कल सोमवार नहीं होगा, क्योंकि आज शनिवार है।[64]

5. उत्तरचर– जैसे– कल सोमवार नहीं था, क्योंकि आज बुध वार है।[65]

6. सहचर– जैसे– इस दीवाल में अपर भाग का अभाव नहीं है, क्योंकि यह भाग दिखाई दे रहा है।[66]

प्रश्न-57. विधिसाधक निषेधरूप (विरुद्धानुपलब्धि) हेतु के कितने भेद हैं? समझाइये।

उत्तर– विधिसाधक निषेधरूप (विरुद्धानुपलब्धि) हेतु के 3 भेद हैं[67]–

1. कार्य– जैसे– इस प्राणी में व्याधिविशेष है, क्योंकि इसमें निरामय चेष्टा नहीं है।[68]

2. कारण– जैसे– इस प्राणी में दु:ख है, क्योंकि इष्ट-संयोग नहीं है।[69]

---

61. 'नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/68
62. 'नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/69
63. 'नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/70
64. 'नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/71
65. 'नोद्गाद् भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/72
66. 'नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/73
67. 'विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/82
68. 'यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/83
69. 'अस्त्यत्र देहिनि दु:खमिष्टसंयोगाभावात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/84

3. स्वभाव– जैसे– वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्तस्वभाव नहीं है।[70]

प्रश्न-58. निषेधसाधक निषेधरूप (अविरुद्धानुपलब्धि) हेतु के कितने भेद हैं? समझाइये।

उत्तर– निषेधसाधक निषेधरूप (अविरुद्धानुपलब्धि) हेतु के 7 भेद हैं[71]–

1. स्वभाव– जैसे– यहाँ घट नहीं है, क्योंकि उपलब्ध नहीं है।[72]

2. व्यापक– जैसे– यहाँ सीसम नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है।[73]

3. कार्य– जैसे– यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाली अग्नि नहीं है, क्योंकि धूम नहीं है।[74]

4. कारण– जैसे– यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है।[75]

5. पूर्वचर– जैसे– कल सोमवार नहीं होगा, क्योंकि आज रविवार नहीं है।[76]

6. उत्तरचर– जैसे– कल शनिवार नहीं था, क्योंकि आज रविवार नहीं है।[77]

7. सहचर– जैसे– इस तराज़ू का वह पलड़ा ऊँचा नहीं है, क्योंकि यह नीचा नहीं है।[78]

---

70. 'अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/85
71. 'अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसह-चरानुपलम्भभेदात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/74
72. 'नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/75
73. 'नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/76
74. 'नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/77
75. 'नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/78
76. 'न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/79
77. 'नोद्‌गाद् भरणिः मुहूर्तात् प्राक्तत एव।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/80
78. 'नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/81

प्रश्न–59. हेतु के सर्व भेद–प्रभेदों को एक सारिणी द्वारा दिखाइये।

उत्तर–

हेतु

- **विधिरूप**
  - विधिसाधक (अविरुद्धोपलब्धि)
    1. व्याप्य
    2. कार्य
    3. कारण
    4. पूर्वचर
    5. उत्तरचर
    6. सहचर
  - निषेधसाधक (विरुद्धोपलब्धि)
    1. व्याप्य
    2. कार्य
    3. कारण
    4. पूर्वचर
    5. उत्तरचर
    6. सहचर
- **निषेधरूप**
  - विधिसाधक (विरुद्धानुपलब्धि)
    1. कार्य
    2. कारण
    3. स्वभाव
  - निषेधसाधक (अविरुद्धानुपलब्धि)
    1. स्वभाव
    2. व्यापक
    3. कार्य
    4. कारण
    5. पूर्वचर
    6. उत्तरचर
    7. सहचर

प्रश्न–60. आगम प्रमाण का क्या लक्षण है?

उत्तर– आप्त के वचनादि से होनेवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।[79]

प्रश्न–61. यहाँ 'आदि' शब्द से किसका ग्रहण होता है?

उत्तर– यहाँ 'आदि' शब्द से हस्त–संकेतादि का ग्रहण होता है।[80]

---

79. (क) 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 3/82
    (ख) 'आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।' —न्यायदीपिका, 3/75
80. (क) 'आदिशब्देन हस्तसंज्ञादिपरिग्रहः।' —प्रमेयकमलमार्तण्ड, 3/99
    (ख) 'आदिशब्देन अंगुल्यादिसंज्ञापरिग्रहः।' —प्रमेयरत्नमाला, 3/95

प्रश्न-62. आप्त किसे कहते हैं?

उत्तर- जो वीतराग (मोह-राग-द्वेष आदि दोषों से रहित), सर्वज्ञ और परम हितोपदेशक हो वही आप्त है।[81]

आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' में और आचार्य विद्यानन्दि ने 'आप्तपरीक्षा' में आप्त के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ पढ़ना चाहिए।

प्रश्न-63. आप्त के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान आगम है— ऐसा क्यों कहा है? क्या 'आप्त' पद का प्रयोग आवश्यक है?

उत्तर- हाँ, आप्त पद का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। आप्त के ही वचनों से होनेवाला अर्थज्ञान आगम है। किसी भी पुरुष या सुप्त-उन्मत्त आदि पुरुष के वचनों से होनेवाला अर्थज्ञान अप्रामाणिक होने से आगम नहीं कहा जा सकता।[82]

प्रश्न-64. क्या आप्त के वचनों को ही आगम नहीं कह सकते?

उत्तर- कह सकते हैं, कहते भी हैं; परन्तु उसे कारण में कार्य का उपचार करके ही कहा गया समझना चाहिए,[83] परमार्थ से तो

---

81. (क) 'आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।।' —रत्नकरण्डश्रावकाचार, 5

(ख) 'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः।' —अष्टशती, 78

(ग) 'यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः।' —प्रमेयरत्नमाला, 3/95

(घ) 'आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः।' —न्यायदीपिका, 3/74

(ङ) 'सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्।
सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः।।' —यशस्तिलकचम्पू, 6/52

(च) 'ववगदअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।' —नियमसार, 5

(छ) 'आप्तः शंकारहितः। शंका हि सकल मोहरागद्वेषादयः।'—नियमसार-टीका, 5

82. 'वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि यादृच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः अत उक्तमाप्तेति।' —न्यायदीपिका, 3/73

83. 'शब्दो हि प्रमाणकारणकार्यत्वादुपचारत एव प्रमाणव्यपदेशमर्हति।' —प्रमेयकमलमार्तण्ड, 3/99

आगम वचनरूप नहीं है, ज्ञानरूप ही है; अतः आगम का सम्पूर्ण समीचीन लक्षण यही मानना चाहिए कि आप्त के वचनादि से होनेवाला अर्थज्ञान आगम है– 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।'[84]

प्रश्न–65. प्रमाण के सर्व भेद-प्रभेदों को एक सारिणी द्वारा दिखाइये।

उत्तर–

- **प्रमाण**
  - प्रत्यक्ष
    - सांव्यवहारिक
      - अवग्रह
      - ईहा
      - अवाय
      - धारणा
    - पारमार्थिक
      - विकल
        - अवधिज्ञान
        - मनःपर्ययज्ञान
      - सकल → केवलज्ञान
  - परोक्ष
    - स्मृति
    - प्रत्यभिज्ञान → एकत्व, सादृश्य, वैलक्षण्य, प्रातियोगिक, इत्यादि अनेक प्रकार का
    - तर्क
    - अनुमान
      - स्वार्थानुमान
      - परार्थानुमान
    - आगम

❐❐

84. परीक्षामुखसूत्रम्, 3/95

चतुर्थ द्वार

प्रश्न-1. प्रमाण का विषय क्या है?

उत्तर- सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय है।[1]

प्रश्न-2. सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय क्यों है? केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप पदार्थ प्रमाण का विषय क्यों नहीं है?

उत्तर- सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ ही प्रमाण का विषय इसलिए है, क्योंकि वही अर्थक्रिया में समर्थ है।[2] केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप अर्थ अर्थक्रिया में समर्थ नहीं हो सकता -अर्थात् केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप पदार्थ की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है।

प्रश्न-3. सामान्य क्या है?

उत्तर- सामान्य दो प्रकार का है- 1. तिर्यक्सामान्य, और 2. ऊर्ध्वतासामान्य।[3]

प्रश्न-4. तिर्यक्सामान्य किसे कहते हैं?

उत्तर- एक जाति के अनेक द्रव्यों में पाये जाने वाले सादृश्य को तिर्यक्सामान्य कहते हैं। जैसे- खण्डी, मुण्डी आदि अनेक गायों में गोत्व (गायपना)।[4]

प्रश्न-5. ऊर्ध्वतासामान्य किसे कहते हैं?

उत्तर- एक ही द्रव्य की पूर्वापरव्यापी अनेक पर्यायों में पाये जाने वाले सादृश्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं। जैसे- घड़े की स्थास,

---

1. (क) 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 4/1
   (ख) 'प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/30
2. 'अर्थक्रियासामर्थ्यात्।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/31
3. 'सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 4/3
4. 'सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुडादिषु गोत्ववत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 4/4

कोश, कुशूल आदि अनेक पर्यायों में मिट्टी।[5]

प्रश्न-6. तिर्यक्सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य में क्या अन्तर है?

उत्तर- तिर्यक्सामान्य में द्रव्य अनेक हैं और समय एक है किन्तु ऊर्ध्वतासामान्य में द्रव्य एक है और समय अनेक है।[6]

प्रश्न-7. विशेष क्या है?

उत्तर- विशेष भी दो प्रकार का है– 1. पर्यायविशेष, और 2. व्यतिरेकविशेष।[7]

प्रश्न-8. पर्यायविशेष किसे कहते हैं?

उत्तर- एक ही द्रव्य में होने वाले क्रमवर्ती परिणामों को पर्यायविशेष कहते हैं। जैसे– आत्मा में हर्ष-विषाद आदि।[8]

प्रश्न-9. व्यतिरेकविशेष किसे कहते हैं?

उत्तर- अनेक पदार्थों में पाये जाने वाले पारस्परिक वैसादृश्य को व्यतिरेक विशेष कहते हैं। जैसे– अनेक पशुओं में गाय, भैंस आदि।[9]

प्रश्न-10. क्या प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है?

उत्तर- हाँ, प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है, क्योंकि—

1. वह अनुवृत्त एवं व्यावृत्त प्रत्यय का विषय होता है।

2. उसमें प्रतिसमय पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का ग्रहण और फिर भी स्थिति रूप अर्थक्रिया देखी जाती है।[10]

---

5. 'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं मृदिव स्थासादिषु।'—परीक्षामुखसूत्रम्, 4/5
6. 'एककाले नानाव्यक्तिगतोऽन्वय तिर्यक्सामान्यं भण्यते। नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोऽन्वय ऊर्ध्वतासामान्यं भण्यते।।' —प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति, 93
7. 'विशेषश्च । पर्यायव्यतिरेकभेदात्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 4/6-7
8. 'एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 4/8
9. 'अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।'—परीक्षामुखसूत्रम्, 4/9
10. (क) 'अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-लक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 4/2
    (ख) 'पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/33

प्रश्न-11. अनुवृत्त एवं व्यावृत्त प्रत्यय किसे कहते हैं?

उत्तर- 'यह वही है, वही है' -इत्यादि प्रकार के ज्ञान को अनुवृत्त प्रत्यय कहते हैं और 'यह वह नहीं है, वह नहीं है' -इत्यादि प्रकार के ज्ञान को व्यावृत्त प्रत्यय कहते हैं।

प्रश्न-12. प्रत्येक पदार्थ, एक साथ ही अनुवृत्त एवं व्यावृत्त ज्ञान का विषय होता है- कैसे? कृपया समझाइये।

उत्तर- यथा- एक टोकरी में अनेक फल रखे हैं। उनमें हमें एक साथ दोनों प्रकार का ज्ञान होता है। 'यह भी फल है, यह भी फल है, यह भी फल है' -इत्यादि प्रकार का अनुवृत्त ज्ञान भी होता है और 'यह आम है, यह केला है, यह पपीता है, यह अनार है, यह चीकू है' -इत्यादि प्रकार का व्यावृत्त ज्ञान भी होता है।

मान लीजिए -उस टोकरी में मात्र एक ही प्रकार के फल हैं- आम । तथापि हमें उनमें भी दोनों प्रकार का ज्ञान अवश्य होता है। 'यह भी आम है, यह भी आम है, यह भी आम है' -इत्यादि प्रकार का अनुवृत्त प्रत्यय भी होता है और 'यह दशहरी है, यह लंगड़ा है, यह तोतापरी है, यह बादाम है' -इत्यादि प्रकार का व्यावृत्त प्रत्यय भी होता है।

प्रश्न-13. प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का ग्रहण और फिर भी स्थिति रूप अर्थक्रिया देखी जाती है- कैसे? कृपया समझाइये।

उत्तर- प्रत्येक पदार्थ में प्रतिसमय पूर्वाकार का त्याग, उत्तराकार का ग्रहण और फिर भी स्थितिरूप अर्थक्रिया होती ही रहती है, किन्तु समय-समयवर्ती इस सूक्ष्म क्रिया को हमारा स्थूल ज्ञान नहीं देख पाता है, तथापि स्थूलरूप से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यथा-

(क) दूध पर्याय का त्याग, दही पर्याय का ग्रहण और फिर भी गोरस रूप से उसी की स्थिति देखी जाती है।

(ख) बाल-अवस्था का त्याग, युवावस्था का ग्रहण और फिर भी मनुष्य रूप से उसी की स्थिति देखी जाती है।

(ग) अंगूठी पर्याय का त्याग, जंजीर पर्याय का ग्रहण और फिर भी स्वर्ण रूप से उसी की स्थिति देखी जाती है।

❐❐

पञ्चम द्वार

प्रश्न–1. प्रमाण का फल क्या है?

उत्तर– प्रमाण का फल दो प्रकार का है– 1. साक्षात्-फल, और 2. परम्परा-फल ।[1]

प्रश्न–2. प्रमाण का साक्षात्-फल क्या है?

उत्तर– अज्ञाननिवृत्ति ही प्रमाण का साक्षात् फल है।[1]

प्रश्न–3. प्रमाण का परम्परा-फल क्या है?

उत्तर– प्रमाण का परम्परा-फल हान (त्याग), उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा है।[1]

प्रश्न–4. प्रमाण का परम्परा-फल हान, उपादान और उपेक्षा किस प्रकार है?

उत्तर– लोक में तीन प्रकार के पदार्थ हैं– 1. हेय (त्यागने योग्य), 2. उपादेय (ग्रहण करने योग्य), और 3. उपेक्षणीय (न त्यागने योग्य और न ग्रहण करने योग्य; मात्र उपेक्षा करने योग्य)। यथा– सर्पादि हेय हैं, रत्नादि उपादेय हैं और तृणादि उपेक्षणीय हैं। अतः इस अपेक्षा से प्रमाण का परम्परा-फल भी तीन प्रकार का है– हान, उपादान और उपेक्षा।

---

1. (क) 'अज्ञाननिर्वृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 5/1

(ख) 'फलमर्थप्रकाशः। अज्ञाननिर्वृत्तिर्वा। हानादिबुद्धयो वा ।'

—प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/34, 38, 40

(ग) 'ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते ।।' —आत्मानुशासन, 175

(घ) 'प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ।।'

—आचार्य सिद्धसेन, न्यायावतार, कारिका 28

प्रश्न–5. प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है या अभिन्न?

उत्तर– प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी।[2]

प्रश्न–6. वह कैसे?

उत्तर– इसकी दो अपेक्षाएँ हैं–

1. अज्ञाननिवृत्तिरूप फल प्रमाण से अभिन्न है और हानोपादानोपेक्षा रूप फल प्रमाण से भिन्न है।
2. जो जानता है वही अज्ञानरहित होता है, त्यागने योग्य का त्याग करता है, ग्रहण करने योग्य का ग्रहण करता है और उपेक्षणीय की उपेक्षा करता है– इस अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाण का फल अभिन्न है और 'यह प्रमाण है और यह इस प्रमाण का फल है' –इस प्रकार भेदरूप कथन होने से प्रमाण और प्रमाण का फल भिन्न-भिन्न है।[3]

प्रश्न–7. क्या केवल ऐसा माना जा सकता है कि प्रमाण का साक्षात्-फल तो प्रमाण से अभिन्न है और परम्परा-फल प्रमाण से भिन्न है?

उत्तर– नहीं, ऐसा भी सर्वथा नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रमाण का साक्षात्-फल भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है और प्रमाण का परम्परा-फल भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।

प्रश्न–8. प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर– प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न मानने में यह आपत्ति है कि ऐसा मानने पर 'यह प्रमाण है और यह उसका (उसी का)

---

2. (क) 'प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 5/2
   (ख) 'प्रमाणाद्भिन्नाभिन्नम्।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/1/41
3. 'यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 5/3

फल है' –ऐसी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। प्रमाण और प्रमाणफल – दो पृथक्–पृथक् स्वतंत्र सत्तावान पदार्थ ठहरेंगे — यह महादोष उत्पन्न होगा।[4]

प्रश्न–9. प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर– प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानने में यह आपत्ति है कि वैसा मानने पर 'यह प्रमाण है और यह फल है' –ऐसा भेद-व्यवहार नहीं बन सकता है।[5]

❐❐

4. 'भेदे त्वात्मान्तरवत् तदनुपपत्तेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/71

5. 'अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/67

षष्ठ द्वार

प्रश्न–1. प्रमाणाभास किसे कहते हैं?

उत्तर– जो प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण जैसा प्रतीत होता है अथवा प्रमाण माना जाता है, उसे प्रमाणाभास कहते हैं। जैसे– प्रमाण का लक्षण तो यह है कि –

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।' [1]

अर्थात् जो स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान है– वह प्रमाण है। परन्तु फिर भी जो अस्वसंवेदी हो, गृहीतार्थग्राही हो, निर्विकल्प दर्शन रूप हो या संशयादि रूप हो, उस ज्ञान को प्रमाण मानना प्रमाणाभास है।[2]

सन्निकर्ष, इन्द्रियाँ, इन्द्रियवृत्ति, पदार्थ, प्रकाश, ईश्वर, वेद, कारकसाकल्य इत्यादि को प्रमाण मानना भी प्रमाणाभास है।

प्रश्न–2. अस्वसंवेदी ज्ञान प्रमाणाभास क्यों है?

उत्तर– वस्तुतः ज्ञान अस्वसंवेदी नहीं होता है। ज्ञान तो स्व-पर-संवेदी ही होता है। परन्तु नैयायिकादि कुछ दर्शन ज्ञान को अस्वसंवेदी मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान चक्षु की भांति स्व को नहीं जानता है, मात्र पर को ही जानता है।

जैनदर्शन के अनुसार ऐसा अस्वसंवेदी ज्ञान प्रमाण नहीं है, प्रमाणाभास है; क्योंकि जो ज्ञान स्वयं को ही न जाने, वह पर को कैसे जान सकता है?

प्रश्न–3. गृहीतार्थग्राही ज्ञान को प्रमाणाभास क्यों माना गया है?

उत्तर– गृहीतार्थग्राही ज्ञान को प्रमाणाभास इसलिए माना गया है क्योंकि वह फलरहित है, उसमें अज्ञाननिवृत्तिरूप फल नहीं पाया जाता है।

---

1. परीक्षामुखसूत्रम्, 1/1
2. 'अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/1

(गृहीतार्थग्राही ज्ञान को पूर्वार्थग्राही या धारावाहिक ज्ञान भी कहते हैं। यह वस्तुतः प्रमाणाभास या अप्रमाण नहीं है, परन्तु न्यायशास्त्र में विशेष विवक्षा से इसे ऐसा कहते हैं।[3])

प्रश्न–4. निर्विकल्प दर्शन को प्रमाणाभास क्यों माना गया है?

उत्तर– निर्विकल्प दर्शन को प्रमाणाभास इसलिए माना गया है, क्योंकि वह निर्विकल्प है, व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं है, अविसंवादी नहीं है।

प्रश्न–5. संशयादि (संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय) को प्रमाणाभास क्यों माना गया है?

उत्तर– इसका उत्तर सरल है। संशयादि को प्रमाणाभास इसलिए माना गया है, क्योंकि उनसे पदार्थ का सम्यक् ज्ञान नहीं होता, संशयादि रूप ही होता है।

प्रश्न–6. प्रमाणाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर– प्रमाण की भाँति प्रमाणाभास के भी दो भेद समझने चाहिए– 1. प्रत्यक्षाभास, और 2. परोक्षाभास ।

प्रश्न–7. प्रत्यक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर– जो प्रत्यक्ष नहीं है (अथवा– परोक्ष है, अविशद ज्ञान है) उसे प्रत्यक्ष मानना प्रत्यक्षाभास है। जैसे– बौद्धदर्शन में अकस्मात् धूमदर्शन से उत्पन्न होनेवाले अग्निज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, जो कि वस्तुतः प्रत्यक्ष नहीं है, प्रत्यक्षाभास है।[4]

प्रश्न–8. प्रत्यक्षाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर– प्रत्यक्ष की भाँति प्रत्यक्षाभास के भी दो भेद माने जा सकते हैं– 1. सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास, और 2. पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास। जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नहीं है उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानना सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है और जो पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं है

---

3. तर्कशास्त्र में अधिकांश व्याख्यान परसमय की मुख्यता से किया जाता है– 'तर्के मुख्यवृत्या परसमयव्याख्यानम् ।' —वृहद्द्रव्यसंग्रह, टीका 44
4. 'अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/6

उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष मानना पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास है।

प्रश्न-9. परोक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो परोक्ष नहीं है (अथवा– प्रत्यक्ष है, विशद ज्ञान है) उसे परोक्ष मानना परोक्षाभास है। जैसे– मीमांसक करणज्ञान (इन्द्रियज्ञान) को परोक्ष मानते हैं, जो कि वस्तुतः परोक्ष नहीं है, परोक्षाभास है।[5]

प्रश्न-10. परोक्षाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- परोक्ष की भाँति परोक्षाभास के भी पाँच भेद समझने चाहिए– 1. स्मरणाभास, 2. प्रत्यभिज्ञानाभास, 3. तर्काभास, 4. अनुमानाभास, और 5. आगमाभास।

प्रश्न-11. स्मरणाभास क्या है?

उत्तर - जो स्मरण नहीं है, उसे स्मरण समझना स्मरणाभास है। अर्थात् जिसका पहले कभी धारणारूप से अनुभव ही नहीं किया है उसमें 'वह'– ऐसा ज्ञान स्मरणाभास है। जैसे– जिनदत्त में 'वह देवदत्त'– ऐसा ज्ञान होना स्मरणाभास है।[6]

प्रश्न-12. प्रत्यभिज्ञानाभास क्या है?

उत्तर- जो प्रत्यभिज्ञान नहीं है, उसे प्रत्यभिज्ञान समझना प्रत्यभिज्ञानाभास है।

प्रश्न-13. प्रत्यभिज्ञानाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- प्रत्यभिज्ञान की भाँति प्रत्यभिज्ञानाभास के भी अनेक भेद समझने चाहिए। जैसे– 1. एकत्वनिमित्तक, 2. सादृश्यनिमित्तक, 3. वैलक्षण्यनिमित्तक, 4. प्रातियोगिक, इत्यादि।

प्रश्न-14. एकत्वनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास क्या है?

उत्तर- प्रत्यक्ष एवं स्मृत पदार्थों में एकत्व नहीं होने पर भी उनमें एकत्व जानना एकत्वनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे– देवदत्त-सदृश अन्य पुरुष में 'यह वही देवदत्त है, –ऐसा ज्ञान होना एकत्वनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास है।

---

5. 'वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/7
6. 'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/8

प्रश्न–15. सादृश्यनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास क्या है?

उत्तर– प्रत्यक्ष एवं स्मृत पदार्थ में सादृश्य न होने पर भी उनमें सादृश्य जानना सादृश्यनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे– पूर्वदृष्ट बालक को ही पुनः प्रत्यक्ष देखकर 'यह उस बालक जैसा है' –ऐसा ज्ञान होना सादृश्यनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास है।

प्रश्न–16. वैलक्षण्यनिमित्तक प्रत्यभिज्ञानाभास क्या है?

उत्तर– प्रत्यक्ष एवं स्मृत पदार्थों में वैलक्षण्य न होने पर भी उनमें वैलक्षण्य जानना वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे– उसी या उसके सदृश पुरुष को देखकर 'यह उससे विलक्षण है' –ऐसा ज्ञान होना वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञानाभास है।

प्रश्न–17. प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञानाभास क्या है?

उत्तर– जिन प्रत्यक्ष एवं स्मृत पदार्थों में प्रातियोगिकत्व नहीं है उनमें प्रातियोगिकत्व जानना प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञानाभास है । जैसे– पूर्वदृष्ट या उसी के सदृश वृक्ष को देखकर उसे उसका प्रातियोगिक जानना प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञानाभास है ।

प्रश्न–18. तर्काभास किसे कहते हैं?

उत्तर– जो तर्क नहीं है, पर तर्क जैसा प्रतीत होता है, वह तर्काभास है। अथवा — अविनाभाव सम्बन्ध से रहित वस्तु में अविनाभाव का ज्ञान होना तर्काभास है। जैसे– देवदत्त के पुत्रत्व और श्यामत्व में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है, फिर भी 'जो भी देवदत्त का पुत्र होगा वह श्याम ही होगा' –ऐसा जानना तर्काभास है।[7]

प्रश्न–19. अनुमानाभास किसे कहते हैं?

उत्तर– जो अनुमान नहीं है, पर अनुमान जैसा प्रतीत होता है, अथवा अनुमान माना जाता है, वह अनुमानाभास है।

प्रश्न–20. अनुमानाभास के कितने अवयव हैं?

उत्तर– पहले (तृतीय द्वार में) अनुमान के अवयवों का निरूपण विजिगीषु एवं वीतराग कथा की दो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से किया गया था

---

7. 'असंबद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/10

और तदनुसार अनुमान के कुल 5 अवयव स्वीकार किये गये थे; अतः उन्हीं की भाँति अनुमानाभास के भी कुल 5 अवयव समझने चाहिए- 1. पक्षाभास, 2. हेत्वाभास, 3. दृष्टान्ताभास, 4. उपनयाभास, और 5. निगमनाभास।

ध्यान रहे यहाँ 'अनुमानाभास के 5 अवयव हैं' -इस कथन को 'अनुमान के 5 अवयवाभास हैं' -ऐसा भी कहा जा सकता है और 'अनुमान के 5 दोष हैं' -ऐसा भी कहा जा सकता है।

प्रश्न-21. पक्षाभास क्या है?

उत्तर- जो पक्ष नहीं है पर पक्ष जैसा प्रतीत होता है, वह पक्षाभास है। अर्थात् अनिष्ट, बाधित और सिद्ध को पक्ष कहना पक्षाभास है।[8]

प्रश्न-22. अनिष्ट पक्षाभास क्या है?

उत्तर- जो वादी को इष्ट न हो उसे पक्ष बताना अनिष्ट पक्षाभास है। जैसे– मीमांसक का यह कहना कि शब्द अनित्य है, अनिष्ट पक्षाभास है, क्योंकि उसके मतानुसार शब्द नित्य है।[9]

प्रश्न-23. बाधित पक्षाभास क्या है?

उत्तर- यह पाँच प्रकार का होता है– 1. प्रत्यक्षबाधित, 2. अनुमानबाधित, 3. आगमबाधित, 4. लोकबाधित, और 5. स्ववचनबाधित।[10]

प्रश्न-24. प्रत्यक्षबाधित (पक्षाभास) किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस पक्ष में प्रत्यक्ष से ही बाधा आती हो वह प्रत्यक्षबाधित पक्षाभास है। जैसे– अग्नि को अनुष्ण कहना प्रत्यक्षबाधित है।[11]

प्रश्न-25. अनुमानबाधित पक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस पक्ष में अनुमान से बाधा आती हो वह अनुमानबाधित पक्षाभास है। जैसे– शब्द अपरिणामी (नित्य) है।[12]

---

8. 'तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/12
9. 'अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/13
10. (क) 'बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/15
    (ख) 'प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधा।'—प्रमाणमीमांसा, सूत्र, 1/2/14
11. 'तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्,6/16
12. 'अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/17

प्रश्न-26. आगमबाधित पक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस पक्ष में आगम से बाधा आती हो वह आगमबाधित पक्षाभास है । जैसे- धर्म परलोक में दु:ख देने वाला है।[13]

प्रश्न-27. लोकबाधित पक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस पक्ष में लोक-व्यवहार से बाधा आती हो वह लोकबाधित पक्षाभास है। जैसे- मनुष्य का शिर:कपाल शंख-शुक्ति की भाँति पवित्र होता है। यहाँ मनुष्य के शिर:कपाल को पवित्र कहना लोकबाधित है, क्योंकि लोक में शंख-शुक्ति को पवित्र मानते हुए भी मनुष्य के शिर:कपाल को अपवित्र ही माना जाता है।[14]

प्रश्न-28. स्ववचनबाधित पक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस पक्ष में स्ववचन से ही बाधा आ जाती हो वह स्ववचन-बाधित पक्षाभास है । जैसे- मेरी माता वन्ध्या है। अथवा- मैं मौनव्रती हूँ।[15]

प्रश्न-29. सिद्ध पक्षाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पहले से ही सिद्ध हो उसे पक्ष बनाना सिद्ध पक्षाभास है। जैसे- शब्द श्रावण (कर्णेन्द्रिय का विषय) है।[16]

प्रश्न-30. हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर - जो हेतु नहीं है, पर हेतु जैसा प्रतीत होता है उसे हेत्वाभास कहते हैं।[17]

प्रश्न-31. हेत्वाभास के कितने भेद हैं ?

उत्तर - हेत्वाभास के चार भेद हैं- 1. असिद्ध, 2. विरुद्ध, 3. अनैकान्तिक, 4. अकिञ्चित्कर।[18]

---

13. 'प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/18
14. 'शुचि नरशिर:कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छंखशुक्तिवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/19
15. 'माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/20
16. 'सिद्धः श्रावणः शब्दः इति ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/14
17. (क) 'हेतुलक्षणरहिताः हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः ।' —न्यायदीपिका, 3/60
    (ख) 'अहेतवो हेतुवदाभासमानाः हेत्वाभासाः ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 2/1/16
18. (क) 'हेत्वाभासाः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/21
    (ख) 'असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात् ।' —न्यायदीपिका, 3/60

प्रश्न-32. असिद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं।[19]

प्रश्न-33. असिद्ध हेत्वाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद हैं– 1. स्वरूपासिद्ध, और 2. संदिग्धासिद्ध।

प्रश्न-34. स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस हेतु का स्वरूप से ही अभाव हो उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं । जैसे– शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चाक्षुष है । यहाँ चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपासिद्ध है।[20]

प्रश्न-35. संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं ?

उत्तर- जिस हेतु की सत्ता का निश्चय न हो, उसमें सन्देह हो उसे संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे– किसी मूढ़ पुरुष से यह कहना कि वहाँ अग्नि है, क्योंकि धूम है। यहाँ 'धूम होना' हेतु मूढ़ पुरुष के लिए संदिग्धासिद्ध है, क्योंकि उसने अग्नि और धूम के सम्बन्ध को ही यथावत् नहीं जाना है।[21]

प्रश्न-36. विरुद्ध हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर - जिस हेतु का साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ अविनाभाव हो उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे- शब्द अपरिणामी (नित्य) है, क्योंकि कृतक है। यहाँ 'कृतक' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है; क्योंकि उसका अविनाभाव अपरिणामी के साथ नहीं, परिणामी के साथ पाया जाता है।[22]

---

19. (क) 'असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/22
    (ख) 'अनिश्चयपथप्राप्तोऽसिद्धः ।' —न्यायदीपिका, 3/60
20. 'अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/23
21. 'अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/25
22. (क) 'विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/29
    (ख) 'साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः ।' —न्यायदीपिका, 3/61

प्रश्न-37. अनैकान्तिक हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो हेतु विपक्ष में भी रहता है उसे अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।[23]

प्रश्न-38. इसके कितने भेद हैं?

उत्तर- इसके दो भेद हैं- 1. निश्चितविपक्षवृत्ति, और 2. शंकितविपक्षवृत्ति।[24]

प्रश्न-39. निश्चितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो हेतु निश्चित रूप से विपक्ष में रहता है उसे निश्चितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास कहते हैं । जैसे- शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है। यहाँ प्रमेयत्व हेतु निश्चितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास है, क्योंकि वह निश्चित रूप से नित्य आकाशादि में भी रहता है।[25]

प्रश्न-40. शंकितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जिस हेतु का विपक्ष में रहना शंकित (संदिग्ध) है उसे शंकितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास कहते हैं। जैसे- वह सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है। यहाँ वक्ता होना हेतु शंकितविपक्षवृत्ति हेत्वाभास है, क्योंकि वह सर्वज्ञ के सद्भाव रूप विपक्ष में शंकित रूप से रहता है।[26]

प्रश्न-41. अकिञ्चित्कर हेत्वाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- साध्य के सिद्ध होने पर या प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित होने पर जो हेतु प्रयुक्त होता है वह अकिञ्चित्कर हेत्वाभास है। क्योंकि वह हेतु साध्य की सिद्धि के लिए कुछ भी नहीं करता। 'अकिञ्चित्कर' शब्द का अर्थ भी यही है- अ+किञ्चित्+कर, अर्थात् जो कुछ न करे।[27]

---

23. (क) 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/30
    (ख) 'पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः ।' —न्यायदीपिका, 3/62
24. 'स द्विविधः- निश्चितविपक्षवृत्तिकः शंकितविपक्षवृत्तिकश्च ।' —न्यायदीपिका, 3/62
25. 'निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/31
26. 'शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/33
27. (क) 'सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/35
    (ख) 'अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः ।' —न्यायदीपिका, 3/63

प्रश्न-42. दृष्टान्ताभास (उदाहरणाभास) किसे कहते हैं?

उत्तर- जो दृष्टान्त नहीं है, पर दृष्टान्त जैसा प्रतीत होता है, वह दृष्टान्ताभास है।[28]

प्रश्न-43. दृष्टान्ताभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- दृष्टान्त की भाँति दृष्टान्ताभास के भी दो भेद समझने चाहिए– 1. अन्वयदृष्टान्ताभास, और 2. व्यतिरेकदृष्टान्ताभास।

प्रश्न-44. अन्वयदृष्टान्ताभास किसे कहते हैं?

उत्तर- अन्वयदृष्टान्त का स्वरूप पहले (चतुर्थ द्वार में) कह चुके हैं। जो अन्वयदृष्टान्त न हो, पर अन्वयदृष्टान्त जैसा प्रतीत होता हो, उसे अन्वयदृष्टान्ताभास कहते हैं।

प्रश्न-45. अन्वयदृष्टान्ताभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- अन्वयदृष्टान्ताभास के तीन भेद होते हैं–

1. असिद्धसाध्य (इसका अपर नाम साध्यविकल है।)
2. असिद्धसाधन (इसका अपर नाम साधनविकल है।)
3. असिद्ध-उभय (इसका अपर नाम उभयविकल है।)[29]

प्रश्न-46. इन तीनों को स्पष्टतया समझाइये।

उत्तर- एक अनुमान लीजिए–

'शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त है; इन्द्रियसुख, परमाणु और घट की तरह।'[30]

यहाँ तीन दृष्टान्त हैं– 1. इन्द्रियसुख, 2. परमाणु, और 3. घट। ये तीनों क्रमशः साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल हैं। यथा–

1. इन्द्रियसुख – इसमें अमूर्त रूप साधन तो है, पर अपौरुषेय रूप साध्य का अभाव है।

---

28. (क) 'उदाहरणलक्षणरहितः उदाहरणवदवभासमानः उदाहरणाभासः।' —न्यायदीपिका, 3/66

(ख) 'दृष्टान्तवदाभासमानाः दृष्टान्ताभासाः भवन्ति।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 2/1/22

29. 'दृष्टान्ताभासाः अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/40

30. 'अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/41

2. परमाणु – इसमें अपौरुषेय रूप साध्य तो है, पर अमूर्त रूप साधन का अभाव है।

3. घट – इसमें अपौरुषेय रूप साध्य भी नहीं है और अमूर्त रूप साधन भी नहीं है।

प्रश्न-47. व्यतिरेकदृष्टान्ताभास किसे कहते हैं?

उत्तर- व्यतिरेकदृष्टान्त का स्वरूप पहले (तृतीय द्वार में) कह चुके हैं। जो व्यतिरेकदृष्टान्त न हो, पर व्यतिरेकदृष्टान्त जैसा प्रतीत होता हो, उसे व्यतिरेकदृष्टान्ताभास कहते हैं।

प्रश्न-48. व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- व्यतिरेकदृष्टान्ताभास के भी तीन भेद हैं–

1. असिद्धसाध्य
2. असिद्धसाधन
3. असिद्धोभय

प्रश्न-49. इन तीनों को स्पष्टतया समझाइये।

उत्तर- एक अनुमान लीजिए–

'शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त है; परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाश की तरह।'[31]

यहाँ तीन दृष्टान्त हैं– 1. परमाणु, 2. इन्द्रियसुख, 3. आकाश। ये तीनों क्रमशः असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय नाम के व्यतिरेकदृष्टान्ताभास हैं। यथा–

1. परमाणु – इसमें अमूर्त रूप साधन का तो व्यतिरेक है, पर अपौरुषेय रूप साध्य का व्यतिरेक नहीं पाया जाता।

2. इन्द्रियसुख – इसमें अपौरुषेय रूप साध्य का व्यतिरेक तो है, पर अमूर्त रूप साधन का व्यतिरेक नहीं पाया जाता।

3. आकाश – इसमें अपौरुषेय रूप साध्य और अमूर्त रूप साधन दोनों का ही व्यतिरेक नहीं पाया जाता।

---

31. 'व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/44

प्रश्न-50. उपनयाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो उपनय नहीं है, पर उपनय जैसा प्रतीत होता है, उसे उपनयाभास कहते हैं।

प्रश्न-51. निगमनाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो निगमन नहीं है, पर निगमन जैसा प्रतीत होता है, उसे निगमनाभास कहते हैं।

प्रश्न-52. आगमाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- मोह-राग-द्वेष से सहित पुरुष के वचनों से उत्पन्न हुए पदार्थ-ज्ञान को आगमाभास कहते हैं।[32]

जैसे– कोई पुरुष बालकों से परेशान था। उसने उनसे पीछा छुड़ाने के लिए कहा कि जाओ, दौड़ो, नदी के किनारे लड्डू बँट रहे हैं।[33] जबकि वस्तुतः नदी के किनारे लड्डू नहीं बँट रहे थे। अतः यहाँ उस पुरुष के वचनों से हुआ बच्चों का मोदक-ज्ञान आगमाभास है।

अथवा– 'किसी ने कहा, मेरी अंगुली की नोक पर सौ हाथियों के झुण्ड रहते हैं।'[34] यह कथन भी विसंवादी होने से आगमाभास है।

प्रश्न-53. प्रमाणसंख्याभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो प्रमाण की संख्या नहीं है, उसे प्रमाण की संख्या समझना प्रमाणसंख्याभास है।

अर्थात्– प्रमाण की संख्या ये दो ही हैं– 1. प्रत्यक्ष, और 2. परोक्ष । किन्तु कोई (चार्वाक) प्रमाण की एक प्रत्यक्ष रूप ही संख्या मानते हैं; कोई (बौद्ध) प्रत्यक्ष और अनुमान —इन दो को प्रमाणसंख्या मानते हैं; कोई (सांख्य) प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम —इन तीन को प्रमाणसंख्या मानते हैं; कोई (यौग) प्रत्यक्ष,

---

32. 'रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/51
33. 'यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति, धावध्वं माणवकाः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/52
34. 'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/53

अनुमान, आगम और उपमान - इन चार को प्रमाणसंख्या मानते हैं, कोई (प्राभाकर) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति -इन पाँच को प्रमाणसंख्या मानते हैं, कोई (जैमिनीय) प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव -इन छह को प्रमाणसंख्या मानते हैं ।

ये सब प्रमाणसंख्याभास हैं ।[35]

प्रश्न-54. चार्वाक द्वारा प्रमाण की प्रत्यक्षरूप एक ही संख्या मानना क्यों गलत है?

उत्तर- क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यथा- उनके द्वारा किया गया परलोकादि का निषेध एवं परबुद्ध्यादि का सद्भाव प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह सब प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अपितु अनुमानादि का विषय है।[36]

प्रश्न-55. बौद्ध द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान -ये दो प्रमाणसंख्या मानना क्यों मिथ्या है?

उत्तर- क्योंकि ऐसा मानने पर भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यथा- अनुमान को प्रमाण मानने के लिए व्याप्तिज्ञान के निश्चायक तर्क को भी प्रमाण मानना आवश्यक है। यदि तर्क को प्रमाण नहीं माना जाएगा तो उसके आधार पर निष्पन्न होने वाला अनुमान कैसे प्रमाण सिद्ध होगा?

प्रश्न-56. सांख्य द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम- ये तीन प्रमाणसंख्या मानना क्यों मिथ्या है?

उत्तर- क्योंकि ऐसा मानने पर भी उक्त प्रकार की ही अनेक आपत्तियाँ

---

35. (क) 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/55
    (ख) 'सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/57

36. (क) 'लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/56
    (ख) 'व्यवस्यान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ।' —प्रमाणमीमांसा, सूत्र 1/11

आती हैं । यथा– वहाँ अनुमान को तो प्रमाण माना गया है, किन्तु तर्क को प्रमाण नहीं माना गया है; जो कि हो नहीं सकता। तर्क को प्रमाण माने बिना अनुमान को प्रमाण मानना संभव नहीं है। तथा तर्क को प्रमाण मानने के लिए स्मृति–प्रत्यभिज्ञान को भी प्रमाण मानना आवश्यक है।

प्रश्न–57. यौग द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान– ये चार प्रमाण मानना क्यों मिथ्या है?

उत्तर– क्योंकि ऐसा मानने पर भी उक्त प्रकार की ही अनेक आपत्तियाँ आती हैं। तथा उपमान को पृथक् से प्रमाण मानना भी अनुचित है, क्योंकि उसका अन्तर्भाव प्रत्यभिज्ञान में हो जाता है।

यदि उपमान को पृथक् प्रमाण माना जाय तो विलक्षणता को जाननेवाला भी दूसरा पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा। इसीप्रकार 'यह इससे छोटा है, यह इससे बड़ा है, यह इससे दूर है, यह इससे पास है' –इत्यादि प्रकार के जो प्रातियोगिक (सापेक्षिक) ज्ञान होते हैं, उन सबको पृथक्–पृथक् प्रमाण मानना होगा।[37]

प्रश्न–58. प्राभाकर द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति– इन पाँच को प्रमाणसंख्या मानना क्यों अनुचित है?

उत्तर– क्योंकि ऐसा मानने पर भी उक्त प्रकार की ही अनेक आपत्तियाँ आती हैं। तथा अर्थापत्ति को पृथक् से प्रमाण मानना व्यर्थ है, क्योंकि उसका अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है।

---

37. (क) 'येषां तु सादृश्यविषयमुपमानाख्यं प्रमाणान्तरं तेषां वैलक्षण्यादिविषयं प्रमाणान्तरमनुषज्येत ।' —प्रमाणमीमांसा, वृत्ति 1/2/4

(ख) 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम् ।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम् ।।
प्रत्यक्षार्थन्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः ।
तत्प्रमाणं न चेत् सर्वमुपमानं कुतस्तथा ।।
इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्राशु नेति वा ।
व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम् ।।' —लघीयस्त्रय, 1/19-21

प्रश्न-59. जैमिनीय द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव -इन छह को प्रमाणसंख्या मानना क्यों अनुचित है?

उत्तर- क्योंकि ऐसा मानने पर भी उक्त प्रकार की ही अनेक आपत्तियाँ आती हैं। तथा अभाव को पृथक् से प्रमाण मानना व्यर्थ है, क्योंकि उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि में ही हो जाता है।

प्रश्न-60. प्रमाणविषयाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो प्रमाण का विषय नहीं है उसे प्रमाण का विषय समझना प्रमाणविषयाभास है।

अर्थात् सामान्य-विशेषात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है, किन्तु उसे न मानकर मात्र सामान्यरूप, मात्र विशेषरूप अथवा सामान्य व विशेष दोनों को स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से प्रमाण का विषय मानना प्रमाणविषयाभास है।[38]

प्रश्न-61. प्रमाणफलाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो प्रमाण का फल नहीं है उसे प्रमाण का फल मानना प्रमाणफलाभास है।

अर्थात् प्रमाण का फल अज्ञाननिवृत्ति व हानोपादानोपेक्षा है और वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न व कथंचित् अभिन्न है; किन्तु प्रमाण का फल अन्य कुछ मानना और उसे प्रमाण से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना प्रमाणफलाभास है।[39]

प्रश्न-62. प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न मानने में क्या दोष है?

उत्तर- इसका उत्तर पूर्व में (पञ्चम द्वार में) दिया जा चुका है, तथापि पुनः कहते हैं- यदि प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा अभिन्न माना जाए तो 'यह प्रमाण है और इस प्रमाण का फल है'- ऐसा भेद-व्यवहार नहीं हो सकता।[40]

---

38. 'विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/61
39. 'फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/66
40. 'अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/67

तथा यदि प्रमाण के फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न माना जाए तो किसी अन्य आत्मा के प्रमाण के फल की भाँति 'यह इसी प्रमाण का फल है'- ऐसा नहीं कहा जा सकता है।[41]

❐❐

---

41. 'भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।' —परीक्षामुखसूत्रम्, 6/71

सप्तम द्वार

प्रश्न-1. नय किसे कहते हैं?

उत्तर- प्रमाण द्वारा परिगृहीत वस्तु के एक देश (अंश, भाग, गुण, धर्म, पक्ष, आयाम) को जानना या कहना नय है।[1]

प्रश्न-2. नय ज्ञानात्मक है या वचनात्मक?

उत्तर- परमार्थ से नय ज्ञानात्मक ही है, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके नय को वचनात्मक भी कहा गया है।[2]

प्रश्न-3. नय की परिभाषा में 'प्रमाण-परिगृहीत' पद क्यों डाला गया है? क्या मात्र इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि वस्तु के एक देश को जानना या कहना नय है?

उत्तर- पहले (चतुर्थ द्वार में) स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक सम्पूर्ण वस्तु है; केवल सामान्य या केवल विशेष रूप वस्तु की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। यही कारण है कि यहाँ 'प्रमाण-परिगृहीत' पद का प्रयोग किया गया है, ताकि वस्तु के एक पक्ष का कथन करते समय अपर पक्ष का निषेध न हो जाए। ध्यान रखना चाहिए कि नय वस्तु के अपर पक्ष

---

1. (क) 'प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशवस्त्वध्यवसायो नयः।'
—धवला, पुस्तक 1, खण्ड 1, भाग 1, सूत्र 1, पृष्ठ 83
(ख) 'प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशो नयः।' —आलापपद्धति 9
(ग) 'प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः।' —तत्त्वार्थवार्तिक 1/33
(घ) 'प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः।' —स्याद्वादमञ्जरी 28
(ङ) 'वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षणम्।' —प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति 181
(च) 'अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।'—प्रमेयकमलमार्तण्ड 6/74
2. (क) 'प्रमाणनयाभ्यामुत्पन्नवाक्येऽप्युपचारतः प्रमाणनयौ।'
—धवला, पुस्तक 9, खण्ड 4, भाग 1, सूत्र 45
(ख) 'नयग्राह्यत्वात् इत्येकनयः।...... तत्प्रतिपादकशब्दोऽपि नयः कथ्यते। ज्ञानस्य कारणे कार्ये च शब्दे नयोपचारात् इति।' —कार्तिकेयानुप्रेक्षा-टीका 265

को मात्र गौण करता है, उसका निषेध या अभाव नहीं, अन्यथा एकान्त का महान दोष उत्पन्न होगा।[3] अपर पक्ष का निषेध करनेवाले नय को नय नहीं, नयाभास कहते हैं। कुनय, दुर्नय या मिथ्यानय भी उसी के अपर नाम हैं।

प्रश्न-4. शास्त्रों में नय की परिभाषा यह भी मिलती है कि 'ज्ञातुरभिप्रायो नयः'[4] अथवा 'वक्तुरभिप्रायो नयः'[5]। आपने यहाँ उस सरल परिभाषा को ही क्यों नहीं बताया?

उत्तर- दरअसल वह नय की सम्पूर्ण परिभाषा नहीं है, अपितु नय के स्वरूप का प्रतिपादन है। नय ज्ञानी वक्ता के ही होते हैं और वस्तु के किस अंश को मुख्य करना और किसको गौण —यह उस ज्ञानी वक्ता पर ही निर्भर करता है — यही बताने के लिए उक्त कथन किये गये हैं कि 'ज्ञातुरभिप्रायो नयः' और 'वक्तुरभिप्रायो नयः'।

प्रश्न-5. उक्त दोनों में से कौन-सा कथन बिल्कुल ठीक है— 'ज्ञातुरभिप्रायो नयः' ठीक है या 'वक्तुरभिप्रायो नयः' ठीक है?

उत्तर- दोनों ही कथन बिल्कुल ठीक हैं, कोई भी मिथ्या नहीं है। ऊपर कहा ही था कि नय परमार्थ से ज्ञानात्मक होते हुए भी उपचार से वचनात्मक भी कहे गये हैं।

प्रश्न-6. नय और प्रमाण में क्या अन्तर है?

उत्तर- नय और प्रमाण दोनों ही सम्यग्ज्ञानरूप हैं— इस अपेक्षा से उनमें कोई अन्तर नहीं है,[6] तथापि प्रमाण सामान्य-विशेषात्मक पूरी वस्तु को एक साथ जानता है और नय उसके किसी एक अंश को

---

3. (क) 'त एव दुरवधीरता मिथ्यादृष्टयः प्रतिपक्षनिराकरणमुखेन प्रवृत्तत्वात् ।'
—धवला, पुस्तक 9, खण्ड 4, भाग 1, सूत्र 45
(ख) 'स्वाभिप्रेताद् अंशाद् इतरांशापलापी पुनर्दुर्नयाभासः ।'
—स्याद्वादमंजरी 28 में उद्धृत।
4. (क) आलापपद्धति 9
(ख) प्रमेयकमलमार्तण्ड 6/74
(ग) न्यायदीपिका 3/82
5. स्याद्वादमञ्जरी 28
6. पञ्चाध्यायी, पूर्वार्द्ध 679

मुख्य करके जानता है — यही अन्तर है।[7] अतएव नय को प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) का अंश भी कहते हैं।

प्रश्न-7. प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) तो पाँच हैं— मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। नय किस प्रमाण का अंश है?

उत्तर- नय श्रुतज्ञान का ही अंश है; मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान का नहीं।[8]

प्रश्न-8. प्रमाण के होते हुए नय की क्या आवश्यकता है?

उत्तर- वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः उसका विशेष स्वरूप हम (कोई भी अल्पज्ञानी) नयों द्वारा ही जान (समझ-समझा) सकते हैं, अन्यथा नहीं। कहा भी है कि जिनके नयदृष्टि नहीं है उन्हें वस्तुस्वभाव की उपलब्धि (जानकारी) नहीं हो सकती है और वस्तुस्वभाव की उपलब्धि हुए बिना वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?[9]

प्रश्न-9. वस्तुस्वरूप की उपलब्धि में नय हमको किस प्रकार उपयोगी होते हैं— इसे उदाहरण-सहित स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- उदाहरणार्थ यदि हमें जीव को जानना है तो प्रमाण तो सामान्य-विशेषात्मक सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को युगपद् 'जीव' — ऐसा बताएगा; किन्तु वह द्रव्य-अपेक्षा एक है, अखण्ड है, नित्य है, इत्यादि और पर्याय-अपेक्षा अनेक है, भेदरूप है, अनित्य है, इत्यादि — इसप्रकार की स्पष्ट (खुलासा) जानकारी हमें नयों द्वारा ही प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि नय ही इसप्रकार से एक-एक धर्म को क्रम-क्रम से मुख्य करके समझा सकते हैं, प्रमाण नहीं,

---

7. (क) माइल्लधवल, नयचक्र, गाथा 249
   (ख) 'अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्।
   एकदेशविशिष्टोऽर्थो नयस्य विषयो मतः।।'
   –आचार्य सिद्धसेन, न्यायावतार 29
8. (क) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/6, श्लोक 24 से 27
   (ख) माइल्लधवल, नयचक्र, गाथा 173
9. 'जे णयदिट्ठीविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धि।
   वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति।।' —माइल्लधवल, नयचक्र, गाथा 181

क्योंकि प्रमाण में क्रमिकता और मुख्य-गौण-व्यवस्था नहीं होती।[10]

प्रश्न-10. कृपया एक सरल-सा लौकिक उदाहरण भी दीजिए?

उत्तर- उदाहरणार्थ यदि हम आम के बारे में जानना चाहते हैं तो, प्रमाण तो उस अनन्तधर्मात्मक आम को युगपद् 'यह आम है' — इतना ही कहेगा; किन्तु वह मीठा भी है, खट्टा भी है, सुगन्धित भी है, पीला भी है — इत्यादि प्रकार की स्पष्ट (खुलासा) जानकारी हमें नयों के द्वारा ही प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं। नयों की यही उपयोगिता है कि वे अनन्तधर्मात्मक वचन-अगोचर-वस्तु के स्वरूप को उसके एक-एक धर्म को मुख्य करते हुए और अन्य-अन्य धर्मों को गौण करते हुए बड़ी कुशलता के साथ समझने-समझाने में हमारी अद्भुत मदद करते हैं।

प्रश्न-11. प्रमाण बड़ा है या नय?

उत्तर- वस्तुस्वरूप की सम्यक् जानकारी के लिए प्रमाण और नय— दोनों ही समान रूप से उपयोगी हैं, हमें किसी को छोटा या बड़ा नहीं समझना चाहिए।

तथापि शास्त्रों में आचार्यों ने भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कहीं प्रमाण को बड़ा कहा है और कहीं नय को।

प्रमाण नयों की जन्मस्थली है[11], वह अनन्तधर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु को विषय करता है, जबकि नय वस्तु के केवल एक अंश को ही ग्रहण करता है, —इस अपेक्षा से प्रमाण को बड़ा (पूज्य) कहा है तथा प्रमाण वस्तु के अनन्त धर्मों को मुख्य-गौण करके स्पष्टतः (खुलासा) नहीं समझा सकता, नय ही समझा सकते हैं — इस अपेक्षा नयों को बड़ा कहा है।

प्रश्न-12. नय कितने हैं?

उत्तर- वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः वास्तव में नय अनन्त हैं।[12] ज्ञानी

---

10. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 264
11. 'कुतोऽभ्यर्हितत्वम्? नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात् ।' —सर्वार्थसिद्धि 1/6
12. (क) सर्वार्थसिद्धि 1/33, पैरा 249, पृष्ठ 104
    (ख) आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार-टीका, परिशिष्ट ।

वक्ता और उनके वचन-विकल्प असंख्य हैं, अतः इस अपेक्षा से नय असंख्य भी कहे गये हैं।[13] तथा समझने-समझाने की सुविधा से नय के दो, तीन, चार, सात, सैंतालीस आदि भेद भी शास्त्रों में गिनाये गये हैं।

प्रश्न-13. नय के दो भेद कौन-से हैं?

उत्तर- नय के दो भेद मुख्यतया दो प्रकार से बताये गये हैं—

1. (क) निश्चयनय और (ख) व्यवहारनय ।[14]
2. (क) द्रव्यार्थिकनय और (ख) पर्यायार्थिकनय ।[15]

इसके अतिरिक्त द्रव्यनय और भावनय — इसप्रकार भी नय के दो भेद बताये गये हैं।[16]

प्रश्न-14. द्रव्यनय और भावनय का क्या स्वरूप है?

उत्तर- प्रमाण-परिगृहीत वस्तु के एक देश को कहनेवाला पौद्गलिक शब्द या वाक्य द्रव्यनय है और जीव का वैसा ज्ञान भावनय है। तात्पर्य यह कि द्रव्यनय शब्दात्मक है और भावनय ज्ञानात्मक।[17]

प्रश्न-15. निश्चय और व्यवहारनय का क्या स्वरूप है?

उत्तर- निश्चय और व्यवहारनय के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाले कथन शास्त्रों में अनेक मिलते हैं, परन्तु उनमें से निम्नलिखित दो कथन सभी कथनों का सार कहे जा सकते हैं—

---

13. (क) धवला, पुस्तक 1, खंड 1, भाग 1, सूत्र 1, पृष्ठ 91
(ख) जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
—धवला 1/1/1, गाथा 67, गोम्मटसार कर्मकाण्ड 894, सन्मति सूत्र 3/47

14. (क) 'णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।'
—माइल्लधवल, नयचक्र, गाथा 182
(ख) 'तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च।' —आलापपद्धति

15. 'दो चेव य मूलणया भणिदा दव्वत्थपज्जयत्थगया।'
—माइल्लधवल, नयचक्र, गाथा 183

16. 'द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोऽपि यथा।'
—पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक 505

17. 'पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः।'
—पंचाध्यायी, पूर्वार्द्ध, श्लोक 505

1. भूतार्थ सो निश्चय और अभूतार्थ सो व्यवहार।[18]

2. अभेद व अनुपचार रूप से वस्तु (एक वस्तु) को ग्रहण करना (जानना या कहना) निश्चय और भेद व उपचार के साथ वस्तु को ग्रहण करना व्यवहार।[19]

प्रश्न-16. भूतार्थ सो निश्चय और अभूतार्थ सो व्यवहार — इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर- भूतार्थ का अर्थ है— सत्यार्थ और अभूतार्थ का अर्थ है— असत्यार्थ। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहना (अथवा जानना) निश्चयनय है और उसे वैसी न कहकर उपचार से अन्यथा कहना व्यवहारनय है।[20]

जैसे— मिट्टी के घड़े को 'मिट्टी का घड़ा' कहना भूतार्थ है, सत्यार्थ है अतः निश्चयनय है और उसमें घी रखा है— इस उपचार से 'घी का घड़ा' कहना व्यवहारनय है।

इसी प्रकार जीव को शरीरादि से भिन्न एवं अजर-अमर, अमूर्तिक आदि कहना निश्चयनय है और सशरीर, जन्म-मरणधर्मा मूर्तिक आदि कहना व्यवहारनय है।

प्रश्न-17. अभेद व अनुपचार रूप से वस्तु को ग्रहण करना निश्चय और भेद व उपचार से वस्तु को ग्रहण करना व्यवहार— इसका क्या अभिप्राय है?

उत्तर- जो नय वस्तु को उसके अनन्त गुण-पर्यायों से अभेद एवं परद्रव्यादि के संयोग से रहित ग्रहण करता है वह निश्चय है और जो नय वस्तु को उसके गुण-पर्यायों से भेद करके अथवा परद्रव्यादि के संयोगादि की अपेक्षा से ग्रहण करता है वह व्यवहार है।

---

18. (क) 'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणयो।' —समयसार, गाथा 11
    (ख) 'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।' —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 5

19. (क) 'जो सिय भेदुवयारं धम्माणं कुणदि एगवत्थुस्स।
    सो ववहारो भणियो विवरीओ णिच्छओ होइ ॥'—माइल्लधवल, नयचक्र 264
    (ख) 'अभेदानुपचारतया वस्तु निश्चीयत इति निश्चयः। भेदोपचारतया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः।' —आलापपद्धति

20. पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 249

जैसे— जीव को ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणभेद से रहित अखण्ड, एक, अजर-अमर, अमूर्तिक आदि कहना निश्चयनय है; क्योंकि यहाँ जीव का ग्रहण अभेद व अनुपचार दृष्टि से किया गया है। तथा जीव को ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों वाला और शरीरादि के संयोग के कारण जन्म-मरणधर्मा, संसारी, मूर्तिक आदि कहना व्यवहारनय है, क्योंकि यहाँ जीव का ग्रहण भेद व उपचार के साथ किया जा रहा है।

प्रश्न-18. क्या निश्चय-व्यवहारनय के भेद-प्रभेद भी होते हैं?

उत्तर- उन सबको आलाप-पद्धति, नयचक्र, पञ्चाध्यायी आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए। यहाँ अवकाश नहीं है।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भी इस सन्दर्भ में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

प्रश्न-19. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय का क्या स्वरूप है?

उत्तर- "द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः।..... पर्याय एवार्थः प्रयोजन मस्येति पर्यायार्थिकः।"[21] अर्थात् द्रव्य ही जिसका अर्थ है— प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय ही जिसका अर्थ है— प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। वहाँ जो नय वस्तु के पर्याय (या विशेष) अंश को गौण करके द्रव्य (या सामान्य) अंश को ही प्रधानता से ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो वस्तु के द्रव्य (या सामान्य) अंश को गौण करके पर्याय (या विशेष) अंश को ही प्रधानता से ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है।[22]

---

21. आलाप-पद्धति, पृष्ठ 226 (लगभग यही व्युत्पत्ति सर्वार्थसिद्धि 1/33, तत्त्वार्थवार्तिक 1/33 आदि अनेक ग्रन्थों में भी मिलती है।)

22. (क) 'पज्जयगउणं किच्चा दव्वंपि य जो हु गिण्हदि लोए।
सो दव्वत्थिय भणिओ विवरीओ पज्जयत्थिणओ ॥'

—माइल्लधवल, नयचक्र, गाथा 189

(ख) 'द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः ।' —समयसार, आत्मख्याति, गाथा 13

जैसे— स्वर्ण-यह द्रव्यार्थिक नय का विषय है और कड़ा, कुण्डल, हार आदि पर्यायार्थिक नय के विषय हैं। इसीप्रकार जीव को नित्य अजर-अमर कहना द्रव्यार्थिक नय है और नारकी, तिर्यंच, मनुष्य आदि कहना पर्यायार्थिक नय है।

प्रश्न-20. क्या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय के भेद-प्रभेद भी होते हैं?

उत्तर- हाँ, होते हैं; परन्तु यहाँ विस्तारभय के कारण उनको स्पष्ट करना सम्भव नहीं है। जिज्ञासुओं से अनुरोध है कि वे आलाप-पद्धति एवं नयचक्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें।

प्रश्न-21. नय के तीन भेद कौन-से है?

उत्तर- नय के तीन भेद अग्रलिखित हैं— शब्दनय, अर्थनय और ज्ञाननय।

प्रश्न-22. कृपया इन्हें थोड़ा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- प्रत्येक वस्तु तीन प्रकार की है— शब्दात्मक, अर्थात्मक और ज्ञानात्मक; अतः उसको ग्रहण करनेवाला नय भी तीन प्रकार का है— शब्दनय, अर्थनय और ज्ञाननय।[23]

उदाहरणार्थ आम तीन प्रकार का है— शब्द-आम, अर्थ-आम और ज्ञान-आम। शब्दरूप या वचनरूप को शब्द-आम कहते हैं, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णमय भक्ष्य वस्तु को अर्थ-आम कहते हैं और ज्ञान में प्रतिबिम्बित आम के ज्ञानाकार को ज्ञान-आम कहते हैं। इनमें से शब्दात्मक आम को ग्रहण करनेवाला शब्दनय है, अर्थात्मक आम को ग्रहण करनेवाला अर्थनय है और ज्ञानात्मक आम को ग्रहण करनेवाला ज्ञाननय है।

प्रश्न-23. नय के चार भेद कौन-से हैं?

उत्तर- नय के चार भेद निम्नलिखित हैं— नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय।[24]

---

23. (क) 'जीवार्थो जीवशब्दो जीवप्रत्ययः इत्येतत्त्रितयं लोके अविचारसिद्धम् ।'
—तत्त्वार्थवार्तिक 4/42

(ख) 'शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिधाभिधेयतां समयशब्दस्य।'—पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति 3

24. आचार्य अमृतचन्द्र, प्रवचनसार-टीका, परिशिष्ट ।

प्रश्न-24. कृपया इन्हें भी थोड़ा-सा स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- निक्षेप की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु चार प्रकार की है— नामरूप, स्थापनारूप, द्रव्यरूप और भावरूप; अतः उसे ग्रहण करनेवाला नय भी चार प्रकार का है— नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय।

उदाहरणार्थ— राजा चार प्रकार का है— नामराजा, स्थापनाराजा, द्रव्यराजा और भावराजा। कोई भी सामान्य पुरुष जिसका नाम राजा है वह नामराजा है, काष्ठ-चित्रादि में स्थापित राजा स्थापनाराजा है, बालक राजकुमार या मुनि हो चुका राजा द्रव्यराजा है और वर्तमान में राज्य करनेवाला प्रतापी पुरुष भावराजा है। इनमें से नामराजा को ग्रहण करनेवाला नामनय है, स्थापनाराजा को ग्रहण करनेवाला स्थापनानय है, द्रव्यराजा को ग्रहण करनेवाला द्रव्यनय है और भावराजा को ग्रहण करनेवाला भावनय है।

प्रश्न-25. नय के सात भेद कौन-से हैं?

उत्तर- नय के सात भेद शास्त्रों में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं, जो निम्नलिखित हैं— नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ़ नय और एवंभूत नय।

ये सातों नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय वाले हैं और पूर्व-पूर्ववर्ती नय उत्तर-उत्तरवर्ती नय का हेतु है,[25] अतः इन्हें उक्त निश्चित क्रम में ही समझना योग्य है। सुगमता के लिए आचार्य उमास्वामी प्रणीत 'तत्त्वार्थसूत्र' का यह सूत्र कण्ठस्थ कर लेना चाहिए— "नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः नयाः।"[26]

प्रश्न-26. नैगम नय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो अनिष्पन्न अर्थ में संकल्प मात्र को ग्रहण करता है, उसे नैगम नय कहते हैं।[27]

---

25. 'उत्तरोत्तरसूक्ष्मविषयत्वादेतेषां क्रमः पूर्वपूर्वहेतुकत्वाच्च।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33
26. तत्त्वार्थसूत्र 1/33
27. (क) 'अनभिनिर्वृत्तार्थसंकल्पमात्रग्राही नैगमः।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33
 (ख) 'तत्र संकल्पमात्रग्राहको नैगमो नयः।' —तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/33

जैसे— कोई पुरुष कुल्हाड़ी लेकर वन में जा रहा है। उससे किसी ने पूछा— कहाँ जा रहे हो? उसने उत्तर दिया— मैं पलंग लेने जा रहा हूँ। अब यहाँ उस समय वह पलंग नहीं, अपितु पलंग के लिए लकड़ी ही लेने जा रहा है, तथापि पलंग के संकल्प मात्र को ग्रहण किया गया है, अतः यह नैगम नय है। अथवा जैसे कोई स्त्री रसोईघर की ओर जा रही है। किसी ने पूछा— क्या कर रही हो? उसने उत्तर दिया— रोटी बना रही हूँ। यहाँ रोटी नहीं बनी है, परन्तु रोटी बनाने के संकल्प मात्र को ग्रहण किया है, अतः यह नैगम नय है।

प्रश्न-27. संग्रह नय किसे कहते हैं?

उत्तर- सम्+ग्रह=संग्रह। 'सम्' के यहाँ दो अर्थ हैं— सम्पूर्ण और समीचीन। अर्थात् जो नय सम्पूर्ण पदार्थों का समीचीन रूप से (कथंचित्/अपनी जाति के अविरोधपूर्वक) ग्रहण करता है उसे संग्रह नय कहते हैं।[28] जैसे— सत् या द्रव्य। 'सत्'— ऐसा कहने पर समस्त पदार्थों का सामान्य रूप से सम्यक् ग्रहण हो जाता है, अतः यह संग्रह नय का विषय है। इसीप्रकार 'द्रव्य'— ऐसा कहने पर जीव, अजीव और उनके समस्त भेद-प्रभेदों का सामान्य रूप से सम्यक् ग्रहण हो जाता है अतः यह भी संग्रहनय का विषय है।

प्रश्न-28. व्यवहार नय किसे कहते हैं?

उत्तर- संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थों का विधिपूर्वक (अवहरण अर्थात्) भेद करना व्यवहार नय है।[29]

जैसे— संग्रह नय का विषय था सत्। उसका भेद करके व्यवहार नय कहता है:— सत् दो प्रकार का है— महासत्ता और अवान्तर सत्ता। इसी प्रकार संग्रह नय का विषय था— द्रव्य। उसका भेद

---

28. (क) 'समेकीभावसम्यक्त्वे वर्तमानो हि गृह्यते।
निरुक्त्या लक्षणं तस्य तथा सति विभाव्यते।'—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/33
(ख) 'स्वजात्यविरोधनैकध्यमुपानीय पर्यायानाक्रान्तभेदानविशेषेण समस्तग्रहणात् संग्रहः।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33
29. 'संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33

करके व्यवहार नय कहता है:— द्रव्य दो प्रकार का है— जीव और अजीव।

प्रश्न-29. ऋजुसूत्र नय किसे कहते हैं?

उत्तर- ऋजु+सूत्र=ऋजुसूत्र। जो नय ऋजु अर्थात् सरल को सूत्रित अर्थात् स्वीकार करता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। तात्पर्य यह है कि ऋजुसूत्र नय भूत-भविष्य में व्याप्त त्रिकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण न करके मात्र वर्तमानकाल के पदार्थ (पर्याय) को ही ग्रहण करता है। वर्तमान काल वस्तुतः एक समय का है, अतः यह भी कहा जा सकता है कि जो नय मात्र एक समय की पर्याय को ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र नय है।[30]

स्थूल अपेक्षा से वर्षों तक रहनेवाली मनुष्य तिर्यंच आदि पर्यायें भी वर्तमानकालिक कही जा सकती हैं और ऋजुसूत्रनय का विषय भी मानी जा सकती हैं।

प्रश्न-30. शब्द नय किसे कहते हैं?

उत्तर- शब्द से अर्थात् व्याकरण से प्रकृति-प्रत्ययादि द्वारा सिद्ध किये गये शब्दों का साधु प्रयोग ही शब्दनय है।[31]

यहाँ तक कि व्याकरण में तो कदाचित् अपवाद रूप से लिंग, संख्या, साधनादि के अन्यथा प्रयोग स्वीकार कर लिए गये हैं; पर शब्द नय उन अन्यथा प्रयोगों को भी स्वीकार नहीं करता, वह तो लिंग, संख्या, साधनादि के व्यभिचार की निवृत्ति करने वाला होता है।[32]

उदाहरणार्थ— संस्कृत-व्याकरण के अनुसार दार, भार्या और कलत्र— ये तीनों शब्द एकार्थवाचक होकर भी भिन्न-भिन्न लिंगों में— क्रमशः पुलिंग, स्त्रीलिंग एवं नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होते हैं,

---

30. 'ऋजुं प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः। पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। तच्च वर्तमानं समयमात्रम्। तद्विषयपर्यायमात्रग्राह्यमृजुसूत्रः।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33

31. 'शब्दाद् व्याकरणात् प्रकृतिप्रत्ययद्वारेण सिद्धः शब्दः शब्दनयः।' —आलापपद्धति

32. 'लिंगसंख्यासाधनादिव्यभिचारनिवृत्तिपरः शब्दनयः।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33

जिसे शब्द नय स्वीकार नहीं करता। शब्द नय समस्त पर्यायवाची शब्दों को एकार्थक मानता है, परन्तु उनमें लिंग, संख्या, साधनादि का व्यभिचार नहीं होना चाहिए। जैसे— इन्द्र, शक्र और पुरन्दर— ये तीनों शब्द पर्यायवाची हैं और लिंग-संख्या साधनादि-व्यभिचार से रहित हैं, अतः एकार्थवाचक हैं।[33]

प्रश्न-31. समभिरूढ़ नय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो नय शब्द के नाना अर्थों को छोड़कर प्रधानता से एक ही अर्थ को रूढ़ होने से सही स्वीकार करता है वह समभिरूढ़ नय है। जैसे— 'गो' शब्द के वचन, गमन, पृथिवी, इन्द्रियाँ आदि अनेक अर्थ होते हैं, फिर भी समभिरूढ़ नय से 'गो' शब्द का अर्थ 'गाय' ही स्वीकार्य है।[34]

प्रश्न-32. एवंभूत नय किसे कहते हैं?

उत्तर- जो वस्तु जिस पर्याय को प्राप्त हुई है उसका उसी रूप से निश्चय कराने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं। जैसे— 'गौ' शब्द का अर्थ गमन होता है, अतः गौ (गाय) को तभी 'गौ' कह सकते हैं जब वह गमन करती हो, खड़ी या बैठी गाय को 'गौ' नहीं कह सकते। इसी प्रकार इन्दन क्रिया से युक्त को ही 'इन्द्र' शब्द से कहा जा सकता है, अभिषेक या पूजा करते हुए (इन्द्र) को नहीं।[35]

इसे हम एक और सरल उदाहरण से इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि व्यापारी तभी व्यापारी है जब वह व्यापार कर रहा हो; पूजा करते समय तो वह पुजारी है, व्यापारी नहीं। इसीप्रकार यात्रा करते

---

33. 'न च इन्द्रशक्रपुरन्दरादयः पर्यायशब्दाः विभिन्नार्थवाचितया कदाचन प्रतीयन्ते।'
—स्याद्वादमंजरी 28

34. 'नानार्थशमभिरोहणात् समभिरूढः। यतो नानार्थान्समतीत्येकमर्थमाभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। गौरित्ययं शब्दो वागादिष्वर्थेषु वर्तमानः पशावभिरूढः।'
—सर्वार्थसिद्धि 1/33

35. 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवंभूतः। स्वाभिप्रेतक्रियापरिणतिक्षणे एव स शब्दो युक्तो नान्यदेति। यदैवेन्दति तदैवेन्द्रो नाभिषेचको न पूजक इति। यदैव गच्छति तदैव गौर्न स्थितो न शयित इति।' —सर्वार्थसिद्धि 1/33

समय वह यात्री है, शिक्षा ग्रहण करते समय वह शिक्षार्थी है, चिकित्सक के समक्ष उपचार कराते समय वह रोगी है, इत्यादि।

प्रश्न-33. कृपया नैगमादि सातों नयों को एक साथ किसी एक ही उदाहरण से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर- आइये, प्रयत्न करते हैं—

1. नैगम नय — जो कभी भूत काल में गाय था या भविष्य में गाय होगा उसे वर्तमान में गाय कहना नैगम नय है।
2. संग्रह नय — 'गाय' शब्द से त्रिलोकत्रिकालवर्ती सम्पूर्ण गायों का ग्रहण करना संग्रह नय है।
3. व्यवहार नय — 'काली गाय'— ऐसा कहकर संग्रह-गृहीत अर्थ में भेद करना व्यवहार नय है।
4. ऋजुसूत्र नय — मात्र एक समय की गाय पर्याय को ग्रहण करना ऋजुसूत्रनय है।
5. शब्द नय — गाय को 'गाय' शब्द से ही कहना समीचीन है, भैंस, अश्व, गोणी, गोपोत्तलिका आदि अशुद्ध हैं।
6. समभिरूढ नय — 'गौ' शब्द का अर्थ गाय ही ठीक है, वचन, पृथिवी, इन्द्रिय आदि नहीं।
7. एवंभूत नय — चलती हुई गाय को ही 'गौ' कह सकते हैं, बैठी हुई या सोई हुई को नहीं।

प्रश्न-34. क्या इन नैगमादि सप्त नयों के और भी भेद-प्रभेद होते हैं?

उत्तर- हाँ, पर यहाँ विस्तार-भय से उनको स्पष्ट किया जाना सम्भव नहीं है। जिज्ञासुओं को आलाप-पद्धति, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न-35. नय के सैंतालीस भेद कौन-से हैं?

उत्तर- नय के सैंतालीस भेदों का वर्णन 'प्रवचनसार' की आचार्य अमृतचन्द्र कृत 'तत्त्वप्रदीपिका' टीका में उपलब्ध होता है। वहाँ

वे आत्मा पर ही घटित किये गये हैं जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं—

1.	द्रव्यनय	— आत्मा चिन्मात्र है।
2.	पर्यायनय	— आत्मा दर्शन-ज्ञान रूप है।
3.	अस्तित्वनय	— स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व वाला है।
4.	नास्तित्वनय	— परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व वाला है।
5.	अस्तित्व-नास्तित्वनय	— क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व-नास्तित्व वाला है।
6.	अवक्तव्यनय	— युगपद् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।
7.	अस्तित्व-अवक्तव्यनय	— स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपद् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से अस्ति-अवक्तव्य है।
8.	नास्तित्व-अवक्तव्यनय	— पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपद् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति-अवक्तव्य है।
9.	अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय	— स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से और युगपद् स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से अस्ति-नास्ति अवक्तव्य है।
10.	विकल्पनय	— आत्मा सविकल्प (भेदरूप) है।
11.	अविकल्पनय	— आत्मा अविकल्प (अभेदरूप) है।
12.	नामनय	— आत्मा शब्दब्रह्मस्पर्शी है।
13.	स्थापनानय	— मूर्ति की भाँति सकल पुद्गलालम्बी है।
14.	द्रव्यनय	— अतीत-अनागत पर्यायों से ज्ञात होता है।
15.	भावनय	— वर्तमान पर्याय से प्रकाशित होता है।

16.	सामान्यनय	— सर्वगुण-पर्यायों में व्यापक है, हार के धागे की तरह।
17.	विशेषनय	— हार के मोती की तरह अव्यापक है।
18.	नित्यनय	— आत्मा स्थाई है।
19.	अनित्यनय	— आत्मा अस्थाई है।
20.	सर्वगतनय	— आत्मा सर्वगत (सर्वव्यापक) है।
21.	असर्वगतनय	— आत्मा आत्मगत है।
22.	शून्यनय	— आत्मा शून्य (एकाकी/अमिलित) है।
23.	अशून्यनय	— अशून्य (भरा हुआ) है।
24.	ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय	— आत्मा अग्नि की भाँति एक है।
25.	ज्ञान-ज्ञेय-द्वैतनय	— प्रतिबिम्बयुक्त दर्पण की भाँति अनेक है।
26.	नियतनय	— आत्मा नियतस्वभावी है।
27.	अनियतनय	— आत्मा अनियतस्वभावी है।
28.	स्वभावनय	— संस्कारों को निरर्थक करने वाला है।
29.	अस्वभावनय	— संस्कारों को सार्थक करने वाला है।
30.	कालनय	— समयाधीन सिद्धि वाला है।
31.	अकालनय	— समयाधीन नहीं ऐसी सिद्धि वाला है।
32.	पुरुषकारनय	— यत्नसाध्य सिद्धि वाला है।
33.	दैवनय	— अयत्नसाध्य सिद्धि वाला है।
34.	ईश्वरनय	— परतन्त्रता को भोगने वाला है।
35.	अनीश्वरनय	— स्वतन्त्रता को भोगने वाला है।
36.	गुणीनय	— गुणग्राही है, शिक्षार्थी की भाँति।
37.	अगुणीनय	— प्रेक्षक पुरुष की भाँति केवल साक्षी है।
38.	कर्तृनय	— रागादि परिणाम का कर्ता है।

39.	अकर्तृनय	— केवल उसका साक्षी है।
40.	भोक्तृनय	— सुख-दु:खादि का भोक्ता है।
41.	अभोक्तृनय	— केवल उसका साक्षी है।
42.	क्रियानय	— क्रिया की प्रधानता से साध्यसिद्धि वाला है।
43.	ज्ञाननय	— ज्ञान की प्रधानता से साध्यसिद्धि वाला है।
44.	व्यवहारनय	— बन्ध-मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला है।
45.	निश्चयनय	— बन्ध-मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है।
46.	अशुद्धनय	— सोपाधि स्वभाव वाला है।
47.	शुद्धनय	— निरुपाधि स्वभाव वाला है।

इन 47 नयों का विशद विवेचन डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल की कृति 'परमभावप्रकाशक नयचक्र'[36] में भी उपलब्ध है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ पढ़ना चाहिए।

प्रश्न-36. क्या नयों की भाँति नयाभास का भी ज्ञान आवश्यक है?

उत्तर- हाँ, नयों की भाँति नयाभास का भी ज्ञान आवश्यक है। जिस प्रकार प्रमाण से अर्थ की सम्यक् सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से विपर्यय होता है अत: प्रमाण और प्रमाणाभास — दोनों का ज्ञान आवश्यक बताया गया है[37], उसी प्रकार नय से अर्थ की सम्यक् सिद्धि होती है और नयाभास से विपर्यय होता है अत: नय और नयाभास — दोनों का ज्ञान आवश्यक है।

प्रश्न-37. नयाभास किसे कहते हैं?

उत्तर- जो नय नहीं है, पर नय जैसा प्रतीत होता है उसे नयाभास कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नय प्रमाण-परिगृहीत वस्तु के एक देश को

---

36. प्रकाशक- पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-4, बापू नगर, जयपुर (राज.)
37. 'प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः।।' —परीक्षामुखसूत्रम्, मंगलाचरण

ग्रहण करता है अतः वस्तु के एक पक्ष का कथन करते हुए भी उसके अपर पक्ष का निराकरण नहीं करता, मात्र उसे गौण करता है; परन्तु नयाभास उस अपर पक्ष का निराकरण या अभाव ही कर देता है। नय और नयाभास में यही मूल अन्तर है।[38]

नयाभास को कुनय, दुर्नय या मिथ्यानय भी कहते हैं।

प्रश्न-38. नयाभास के कितने भेद हैं?

उत्तर- नयों की भाँति नयाभास के भी एक, दो, तीन, चार, सात, सैंतालीस, संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद कहे जा सकते हैं। उन्हें स्व-विवेक से समझना चाहिए।

❐❐

---

38. (क) 'निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थत्।' —आप्तमीमांसा, 108
(ख) 'ते सावेक्खा सुणया निरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।' —कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 266

परिशिष्ट—1

जैन-न्याय की कतिपय प्रमुख कृतियाँ

[न्याय-मन्दिर में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्ति को न्याय की प्रमुख कृतियों की भी संक्षिप्त जानकारी अवश्य होनी चाहिए, ताकि वह यथाशक्ति उनके अध्ययन में प्रवृत्त हो सके। वैसे तो जैन न्याय की सैकड़ों कृतियाँ उपलब्ध हैं, परन्तु यहाँ कतिपय प्रमुख कृतियों का ही संक्षिप्त परिचय लिखा जाता है। कृति के समक्ष कोष्ठक में उसके रचयिता और उनका समय दिया गया है।]

1. **तत्त्वार्थसूत्र** (उमास्वामी, प्रथम शती) — यह ग्रन्थ मूलतः न्याय का नहीं है, परन्तु इसमें न्याय के बीज भरे हैं; जो इसकी **सर्वार्थसिद्धि** (पूज्यपाद, 5वीं शती), **तत्त्वार्थवार्तिक** (अकलंक, 7वीं शती), **तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक** (विद्यानन्दि, 8वीं शती) आदि टीकाओं और **न्यायदीपिका** (अभिनव धर्मभूषणयति, शती) आदि स्वतंत्र ग्रन्थों में पल्लवित-पुष्पित हुये हैं। इसका 'प्रमाणनयैरधिगमः' (1/5) सूत्र इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है।

2. **आप्तमीमांसा** (समन्तभद्र, द्वितीय शती) — इसमें 10 परिच्छेदों में विभक्त 114 कारिकाओं के माध्यम से आप्त के स्वरूप का निर्णय किया गया है। इसमें स्याद्वाद की विशद व्याख्या उपलब्ध होती है। इस पर **अष्टशती** (अकलंक, 7वीं शती) और **अष्टसहस्री** (विद्यानन्दि, 8वीं शती) जैसी गम्भीर टीकाएँ उपलब्ध हैं।

3. **स्वयंभूस्तोत्र** (समन्तभद्र, द्वितीय शती) — यद्यपि यह स्तुतिकाव्य है, परन्तु इसमें न्याय-पद्धति से दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल 143 पद्य हैं।

4. **युक्त्यनुशासन** (समन्तभद्र, द्वितीय शती) — इसमें भी भगवान् महावीर की स्तुति के माध्यम से विरुद्ध मतों का खण्डन करते हुए समीचीन मत का प्रतिपादन किया गया है। इसमें 64 पद्य हैं।

5. **सन्मतिसूत्र** (सिद्धसेन, द्वितीय शती) — इसमें 167 गाथाएँ या अग्रलिखित तीन काण्ड (अध्याय) हैं— नयकाण्ड, जीवकाण्ड और

अनेकान्तकाण्ड। यह भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से प्रकाशित है।

6. **सिद्धिविनिश्चय** (अकलंक, 7वीं शती) — इसमें 12 प्रस्तावों (अध्यायों) में प्रमाण, नय और निक्षेप का विस्तृत वर्णन किया गया है। यह अनन्तवीर्य आचार्य की टीका सहित भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

7. **न्यायविनिश्चय** (अकलंक, 7वीं शती) — इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन नामक तीन प्रस्तावों में कुल 480 कारिकाएँ हैं। वादिराज सूरि (11वीं) की टीका **'न्यायविनिश्चयविवरण'** के साथ यह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

8. **प्रमाणसंग्रह** (अकलंक, 7वीं शती) — इसमें 88 कारिकाओं के कुल 9 प्रस्ताव हैं जिनमें प्रमाण, नय और निक्षेप का विशद विवेचन किया गया है। यह सिन्धी ग्रन्थमाला से प्रकाशित है।

9. **लघीयस्त्रय** (अकलंक, 7वीं शती) — यह छोटे-छोटे 3 प्रकरणों का संग्रह है— 1. प्रमाण-प्रवेश, 2. नय-प्रवेश और 3. निक्षेप-प्रवेश; जिनमें कुल 78 कारिकाएँ हैं। इस पर स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त आचार्य प्रभाचन्द्र (11वीं शती) की **'न्यायकुमुदचन्द्र'** नामक प्रसिद्ध टीका भी उपलब्ध होती है।

10. **षड्दर्शनसमुच्चय** (हरिभद्रसूरि, 8वीं शती) — इसमें 6 अधिकारों की 87 कारिकाओं में बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक, मीमांसक और चार्वाक दर्शनों का मूलभूत परिचय दिया गया है। यह गुणरत्नसूरि (15वीं शती) की संस्कृत टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है।

11. **स्याद्वादसिद्धि** (वादीभसिंह, 8वीं शती) — इसमें 16 प्रकरणों में विभाजित 670 कारिकाओं में स्याद्वाद का विशद विवेचन है। यह पं. दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई से प्रकाशित है।

12. **आप्तपरीक्षा** (विद्यानन्दि, 8वीं शती) — इसमें 124 कारिकाएँ 10 प्रकरणों में विभक्त हैं जिनमें 'ईश्वर, कपिल, सुगत, परमपुरुष आदि आप्त नहीं हो सकते, अर्हन्त ही आप्त हो सकते हैं'— इसे स्वोपज्ञवृत्ति सहित समझाया गया है। यह डॉ. दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित है।

13. **प्रमाणपरीक्षा** (विद्यानन्दि, 8वीं शती) — इसमें प्रमाण का लक्षण

प्रमाण के प्रामाण्य की उत्पत्ति–ज्ञप्ति, प्रमाण के भेद–प्रभेद, विषय और फल का विस्तृत विवेचन है।

14. **सत्यशासनपरीक्षा** (विद्यानन्दि, 8वीं शती) — इसमें पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट, प्रभाकर और तत्त्वोपप्लव शासन की परीक्षा करके अन्त में अनेकान्त शासन की भी परीक्षा की है।

15. **नयविवरण** (विद्यानन्दि, 8वीं शती) — यद्यपि इस नाम का कोई ग्रन्थ विद्यानन्दि ने नहीं लिखा है, परन्तु उनके 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' के नय–सम्बन्धी विवेचन को इस नाम से जाना जाता है। इसमें 116 कारिकाएँ हैं, जो भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'नयचक्र' के परिशिष्ट में दी गई हैं।

16. **न्यायावतार** (सिद्धसेन द्वितीय, 9वीं शती) — इसमें 32 कारिकाओं में प्रमाण और नय का विशद विवेचन है। इस पर सिद्धर्षि गणी की संस्कृत–टीका भी उपलब्ध होती है। यह श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास से प्रकाशित है।

17. **परीक्षामुखसूत्र** (माणिक्यनन्दि, 11वीं शती) — यह जैनन्याय का प्रथम सूत्र–ग्रन्थ है और जैनन्याय में प्रवेश हेतु उपयोगी जानकर प्रायः सर्वत्र पाठ्यक्रमों में निर्धारित है। इसमें 6 परिच्छेद और 212 सूत्र हैं जिनमें प्रमाण और प्रमाणाभास का विशद विवेचन किया गया है। इस पर **प्रमेयकमलमार्तण्ड** (प्रभाचन्द्र, 11वीं शती), **प्रमेयरत्नमाला** (लघु अनन्तवीर्य, 12वीं शती), **प्रमेयरत्नालंकार** (भट्टारक चारुकीर्ति, 18वीं शती), **न्यायमणिदीपिका** (अजितसेन, 18वीं शती), **अर्थप्रकाशिका** (विजयचन्द्र) और **प्रमेयकण्ठिका** (शान्तिवर्णी) नामक संस्कृत–टीकाएँ उपलब्ध हैं और हिन्दी में भी अनेक वचनिकाएँ और व्याख्याएँ लिखी गई हैं। 'परीक्षामुख' का अर्थ है— न्याय का प्रवेशद्वार। यह कृति न्याय में प्रवेश हेतु सर्वोत्तम मानी जाती है।

18. **प्रमाणनिर्णय** (वादिराजसूरि, 11वीं शती) — यह संस्कृत–गद्य में रचित और 3 मुख्य अध्यायों में विभाजित है— प्रमाणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय और परोक्षानिर्णय। परोक्षनिर्णय के पुनः दो भाग हैं— अनुमाननिर्णय और आगमनिर्णय। यह डॉ. सूरजमुखी जैन द्वारा सम्पादित और अनेकान्त ज्ञान मन्दिर बीना से प्रकाशित है।

19. **आलाप-पद्धति** (देवसेन, 10वीं शती) — यह एक अत्यन्त

लघुकाय परन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है जो संस्कृत-गद्य में रचित है। इसमें सारगर्भित 16 अधिकार हैं— द्रव्य, गुण, पर्याय, स्वभाव, प्रमाण, नय, गुण-व्युत्पत्ति, पर्याय-व्युत्पत्ति, स्वभाव-व्युत्पत्ति, एकान्तदोष, नययोजना, प्रमाणकथन, नयलक्षण, निक्षेप, नयों के भेद और अध्यात्मनय। यह भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'नयचक्र' के परिशिष्ट में उपलब्ध है।

20. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र** (माइल्लधवल, 12वीं शती) — यह 425 गाथाओं में निबद्ध प्राकृत का सुन्दर ग्रन्थ है, जिसमें नय का विस्तारपूर्वक विवेचन उपलब्ध होता है। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। नयचक्र नाम के दो अन्य ग्रन्थ मल्लवादी (6वीं शती) और देवसेन (10वीं शती) द्वारा रचित भी उपलब्ध होते हैं।

21. **प्रमाणमीमांसा** (हेमचन्द्रसूरि, 12वीं शती) — यह सूत्र-शैली में रचित और स्वोपज्ञवृत्ति सहित है, परन्तु अपूर्ण है। इसमें दो ही अध्याय उपलब्ध होते हैं। प्रथम अध्याय में दो आह्निक हैं और द्वितीय अध्याय में प्रथम आह्निक भी अपूर्ण ही है। अपूर्ण होते हुए भी इसमें प्रमाण सम्बन्धी विवेचन लगभग पूर्ण हो गया है। यह सरस्वती पुस्तक भण्डार, हाथी खाना, रतनपोल, अहमदाबाद से प्रकाशित है।

22. **स्याद्वादमंजरी** (मल्लिषेण, 14वीं शती) — यह आचार्य हेमचन्द्रसूरि (12वीं शती) की कृति 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' की विस्तृत टीका है। इसमें भगवान् महावीर की स्तुति के माध्यम से स्याद्वाद सिद्धान्त का सुन्दर विवेचन किया गया है।

23. **न्यायदीपिका** (अभिनव धर्मभूषण यति, 15वीं शती) — यह जैन-न्याय में प्रवेश करने हेतु सबसे प्रारम्भिक पुस्तक मानी जाती है और इसीलिए प्रायः सर्वत्र पाठ्यक्रम में भी निर्धारित है। यह अत्यन्त सरल-सुबोध संस्कृत-गद्य में रचित है और इसमें तीन प्रकाश हैं— प्रमाणसामान्यप्रकाश, प्रत्यक्षप्रकाश और परोक्षप्रकाश। यह डॉ. दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित और वीर सेवा मन्दिर द्वारा प्रकाशित है।

24. **सप्तभंगीतरंगिणी** (विमलदास, 18वीं शती) — यह संस्कृत-गद्य में रचित महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसमें सप्तभंगों का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। यह श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगास से प्रकाशित है। ❑❑

परिशिष्ट—2

'न्याय-मन्दिर' में उल्लिखित ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

अकलंक 12,13,23,111
अक्षपाद गौतम 40
अनन्तवीर्य 13,113
अभिनव धर्मभूषणयति 31,111
अमितगति 15,16
अमितगति श्रावकाचार 16
अमृतचन्द्र 30,97,101,106
अयोगव्यवच्छेदिका 18
अर्थशास्त्र 11
अष्टशती 71,111
अष्टसहस्री 111
आचार्य विद्यानन्द 23
आत्मख्याति 30,100
आत्मानुशासन 76
आदिपुराण 24
आप्तपरीक्षा 71,112
आप्तमीमांसा 27,47,48,49,110,111
आप्तमीमांसावृत्ति 27
आलापपद्धति 94,95,98-100,104,106,114
इष्टोपदेश 14
ईश्वरकृष्ण 41
उमास्वामी 19,23,102,111
ऋग्वेद 23
ऋषभदेव 24,26
कपिल 17,47,48
कार्तिकेयानुप्रेक्षा 94,97,110
कालिदास 18
कुन्दकुन्द 15
कैलाशचन्द्र शास्त्री 27
कौटिल्य 11
क्षत्रचूडामणि 14
गोम्मटसार 98
गौतम बुद्ध 19
जयन्तभट्ट 35
जयसेन 15
जिनसेन 24
जुगलकिशोर मुख्तार 20
जैन न्याय 27
जैन न्याय की भूमिका 27
जैनशतक 31
जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 100
जैमिनीसूत्र 40
ज्ञानभूषण 22
टोडरमल 20,30,99
तत्त्वप्रदीपिका 97,106
तत्त्वज्ञान-तरंगिणी 22
तत्त्वार्थवार्तिक 29,94,100,101,111
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 95,96,102,103
तत्त्वार्थसूत्र 19,27,45,47,102,111
तात्पर्यवृत्ति 15,74,94,101
तिलोयपण्णत्ति 16,30
दरबारीलाल कोठिया 27,112
धर्मकीर्ति 40
धर्मपरीक्षा 16
धवला 11,17,30,46,94,95,98
नयचक्र 11,25,95,96,98,99,100,106
नियमसार 15,71
नियमसार-टीका 71
नीतिवाक्यामृत 12,23
न्यायकुमुदचन्द्र 55,112
न्यायकुसुमाञ्जलि 27

न्यायदीपिका- प्रायः हर पृष्ठ पर
न्यायप्रवेशपञ्जिका 27
न्यायबिन्दु 40
न्यायविनिश्चय 12,112
न्यायविनिश्चयविवरण 27,37
न्यायसूत्र 40
न्यायावतार 24,76,95,96,113
पंचसंग्रह 45
पंचाध्यायी 95,98
पंचास्तिकाय 101
परमभावप्रकाशक नयचक्र 109
परीक्षामुखसूत्र- प्रायः हर पृष्ठ पर
पात्रस्वामी 64
पाहुडदोहा 21
पाण्डव-पुराण 19
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 99
पूज्यपाद 14,111
प्रभाचन्द्र 113
प्रमाणमीमांसा- प्रायः हर पृष्ठ पर
प्रमेयकमलमार्तण्ड 32,70,71,94,95
प्रमेयरत्नमाला 13,27,32,33,34,35,59,70,71
प्रवचनसार 74,94,97,101,106
प्रवचनसार-टीका 15,97,106
बनारसीदास 13
ब्रह्मदेवसूरि 15
भूधरदास 31
भोजप्रबन्ध 21
महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य 27
माइल्लधवल 11,25,95,96,98,99,100
माणिक्यनन्दि 31,113
मालविकाग्निमित्र 18
मुनि रामसिंह 21
मेरी भावना 20
मोक्षमार्गप्रकाशक 20,30
यतिवृषभ 16
यशस्तिलकचम्पू 17,70,71
युक्त्यनुशासन 111
योगसारप्राभृत 15
रत्नकरण्डश्रावकाचार 71
लघीयस्त्रय 91,112
लोकतत्त्वनिर्णय 17,18
वसुनन्दि 27
वादीभसिंह 24,112
वामन शिवराम आप्टे 47
विद्यानन्दि 71,111,112,113
वीर 17,18
वीरसेन 17
वृहद्द्रव्यसंग्रह 15,50,61,80
शंकराचार्य 15
शुभचन्द्र 19
षड्दर्शनसमुच्चय 112
संस्कृत-हिन्दी कोश 47
सन्त कवि 27
सन्मतिसूत्र 98,112
सप्तभंगी तरंगिणी 114
समन्तभद्र 71,111
समयसार 99,100
समयसार नाटक 13
सर्वार्थसिद्धि 46,47,97,100-105,111
सांख्यकारिका 41
साधनपञ्चक 15
सिद्धचक्रविधान 27
सिद्धसेन 23,24,76,96,112
सिद्धिविनिश्चय 50,112
सोमदेवसूरि 12,17,23
स्याद्वादमञ्जरी 19,94,95,105,114
स्वयंभूस्तोत्र 111
हरिभद्रसूरि 17,18,112
हुकमचन्द भारिल्ल 109
हेमचन्द्रसूरि 18,19,114

❑❑

परिशिष्ट—3

विशिष्ट-शब्दानुक्रमणिका

अकर्तृनय 109
अकालनय 108
अकिंचित्कर 84,86
अक्ष 47
अगुणीनय 108
अतिव्याप्ति 28,29
अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष 41,49
अनध्यवसाय 34,80
अनभ्यस्त 37,38
अनवस्था 56
अनात्मभूत 29
अनित्यनय 108
अनियतनय 108
अनिष्ट 83
अनीश्वरनय 108
अनुमान 39,47,52,56-72,82-92
अनुमानबाधित 83
अनुमानाभास 81,82,83
अनुवृत्त प्रत्यय 74,75
अनैकान्तिक 50,84,86
अन्तरित 35,49
अन्यथानुपपत्ति 56,63,64,65
अन्वय 42,59
अन्वयदृष्यन्त 50
अन्वयदृष्टान्ताभास 87
अन्वीक्षा 11
अपूर्व 32
अप्रसिद्ध 56,57
अबाधित 56,57
अबाधितविषयत्व 64,65
अभाव 90,92
अभिप्रेत 56,57
अभूतार्थ 99
अभोक्तृनय 109
अभ्यस्त 37,38
अरिहन्त 47,48
अर्थ 33
अर्थक्रिया 73,74,75
अर्थनय 101
अर्थापत्ति 90-92
अवक्तव्यनय 107
अवग्रह 43
अवधिज्ञान 44-47
अवयवाभास 83
अवाय 43,44
अविकल्पनय 107
अविनाभाव 55,62-65
अविरुद्धानुपलब्धि 66,69
अविरुद्धोपलब्धि 66,67,70
अव्याप्ति 28
अशुद्धनय 109
अशून्यनय 108
असत्प्रतिपक्षत्व 64,65
असम्भव 28,29
असर्वगतनय 108
असिद्ध 56,57,84,85
असिद्धोभय 87,88
असिद्धसाध्य 87,88
असिद्धसाधन 87,88
अस्तित्व-अवक्तव्यनय 107

अस्तित्वनय 107
अस्तित्वनास्तित्वअवक्तव्यनय 107
अस्तित्वनास्तित्वनय 107
अस्वभावनय 108
अस्वसंवेदी 79
आगम 52,70,71,72,90-92
आगमबाधित 83,84
आगमाभास 81,89
आत्मभूत 29
आन्वीक्षिकी 11,22
आप्त 70,71,72
इतरेतराश्रय दोष 56
इन्द्रियप्रत्यक्ष 41
इन्द्रियवृत्ति 35,36,79
इष्ट 56,57
ईश्वर 79
ईश्वरनय 108
ईहा 43,44
उत्तरचर 67,68,69,70
उदाहरण 58,62
उदाहरणाभास 87
उद्देश 28
उपनय 58,60,62
उपनयाभास 83,89
उपमान 90,91,92
उभयविकल 87
ऊर्ध्वतासामान्य 73,74
ऊह 54
ऋजुसूत्र 102,104,106
एकत्व प्रत्यभिज्ञान 53,81
एवंभूत 102,105,106
औचित्य 12
कर्तृनय 108
कारकसाकल्य 35,36,79
कारण 67,68,69,70
कार्यहेतु 67,68,69,70
कालनय 108
कुनय 95,110
केवलज्ञान नियम 46-49
क्रमभाव नियम 55
क्रियानय 109
गुणीनय 108
गृहीतग्राही 79,80
चार्वाक 89,90
जरन्नैयायिक 35
जैमिनीय 90,92
ज्ञातृव्यापार 35,36
ज्ञाननय 101,109
ज्ञानज्ञेयअद्वैतनय 108
ज्ञानज्ञेयद्वैतनय 108
तथोपपत्ति 63
तर्क 52,54,55,56,90,91
तर्कविद्या 11
तर्काभास 82
तिर्यक् सामान्य 73,74
त्रैरूप्य 64
दुर्नय 95,110
दूरवर्ती 35,49
दैवनय 108
दृष्टान्त 58,59
दृष्टान्ताभास 83,87,88
द्रव्यनय 98,101,102,107
द्रव्यार्थिकनय 98,100,101
धर्मी 58,62
धारणा 43,44
धारावाहिक 33,80
नय 27,28,94-110
नयाभास 95,109,110
नामनय 101,102,107
नास्तित्व-अवक्तव्यनय 107
नास्तित्वनय 107
निक्षेप 16
निगमन 58,60,62
निगमनाभास 83,89

नित्यनय 108
नियतनय 108
निर्विकल्पदर्शन 80
निश्चयनय 98,99,100,109
निश्चितविपक्षवृत्ति 86
निषेधसाधक 66-70
नैगम 102,103,106
नैयायिक 35,40,64,65,79
न्याय 11-25, 27
पक्ष 58,62
पक्षसत्त्व 63,64,65
पक्षाभास 83,84
परम्परा-फल 76
परार्थानुमान 57
परीक्षा 11-25,28,30,31
परोक्ष 39,52-72
परोक्षाभास 80,81
पर्यायनय 107
पर्यायविशेष 74
पर्यायार्थिकनय 98,100,101
पाञ्चरूप्य 64
पारमार्थिक 41,44,46,56,80,81
पुरुषकार 108
पुरुषाद्वैतवादी 33
पूर्वचर 67,68,69,70
प्रतिज्ञा 58,60,61,62
प्रत्यक्ष 39-51,89-92
प्रत्यक्षबाधित 83
प्रत्यक्षाभास 80,81
प्रत्यभिज्ञान 52,53,54,91
प्रत्यभिज्ञानाभास 81,82
प्रमाण—प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर
प्रमाणफलाभास 92
प्रमाणविषयाभास 92
प्रमाणसंख्याभास 89
प्रमाणाभास 79-93,109
प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान 53,54,81,82,91
प्राभाकर 90,91
प्रामाण्य 37,38
बाधित 83,84
बौद्ध 33,40,63,64,80,89,90
भावनय 98,101,102,107
भूतार्थ 99
भोक्तृनय 109
मति 96
मनोनिमित्तक प्रत्यक्ष 41
मनःपर्ययज्ञान 44-47
मानसप्रत्यक्ष 41
मीमांसक 32,36,40,81,83
मुख्य प्रत्यक्ष 41
युक्ति 11,24,30
योगि प्रत्यक्ष 41
यौग 32,89,91
लक्षण 28-34,79
लक्षणनिर्देश 28
लक्षणाभास 28
लोकबाधित 83,84
वाद 12,13,14,62
विकल प्रत्यक्ष 44
विकल्पनय 107
विचार 12
विजिगीषुकथा 61,82
विधिसाधक 66-70
विपक्षव्यावृत्ति 63,64,65
विपर्यय 34,80
विरुद्ध 84,85
विरुद्धानुपलब्धि 66-68
विरुद्धोपलब्धि 66,67
विशदता 39
विशेष 73,74,92,94,100
विशेषनय 108
वीतराग कथा 60,61,82
वेद 79
वैधर्म्य 59

वैलक्षण्य 53,81,82
वैशेषिक 35
वैसादृश्य 53,81,82
व्यतिरेक 42,59
व्यतिरेक दृष्टान्त 59,88
व्यतिरेक दृष्टान्ताभास 87,88
व्यतिरेक विशेष 74
व्यवसायात्मक 31,33,34,40,79,80
व्यवहारनय 98-100,102,103,106,109
व्यापक 69,70
व्याप्ति 54,55,56,60,90
व्याप्य 67,68,70
व्यावृत्त प्रत्यय 74,75
शंकितविपक्षवृत्ति 86
शक्य 56,57
शब्दनय 101,102,104,105
शुद्धनय 109
शून्यनय 108
शून्यैकान्तवादी 53
श्रुत 96
संग्रह 102,103,106
संशय 34,40,80
सकल प्रत्यक्ष 44,46,49
सन्दिग्धविपक्षव्यावृति 50,51
सन्दिग्धासिद्ध 85
सन्निकर्ष 35,40,41,79
सपक्षसत्त्व 63,64,65
समभिरूढ़नय 102,105,106
समारोप 34
समीक्षा 11
सर्वगतनय 108
सर्वज्ञ 35,49,50,51,71
सर्वज्ञसिद्धि 49,50,51
सहचर 67-70
सहभाव नियम 55
सांख्य 32,36,41,89,90
सांव्यवहारिक 41-43,56,80
साक्षात् फल 76
सादृश्य प्रत्यभिज्ञान 53,81,82
साधन 54,55,56,58,59,62,63
साधनविकल 87
साध्य 54,56,63
साध्यविकल 87
साधर्म्य 59
सामान्य 73,92,94,100
सामान्यनय 108
सीमा ज्ञान 45
सूक्ष्म 35,49
स्थापनानय 101,102,107
स्मरणाभास 81
स्मृति 41,52,53
स्वभावनय 108
स्वभाव हेतु 69,70
स्वरूपासिद्ध 85
स्ववचनबाधित 83,84
स्वसंवेदन प्रत्यक्ष 41
स्वार्थानुमान 57,58
हेतु 58-70
हेतुमार्ग 12
हेतुवाद 12
हेतुविद्या 12
हेत्वाभास 83-86

❑❑